धर्म वर्णन

आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव

अनुवादक
महेन्द्रकुमार 'मानव'

रा ज क म ल प्र का श न

मूल्य-एक-रुपया-आठ-आने--

राजकमल प्रकाशन

प्राइवेट लिमिटेड

१=८५

छापा मूल्य

राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड दिल्ली द्वारा प्रकाशित ।
गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस दिल्ली से मुद्रित ।

अनुक्रमणिका

१—हिन्दू (वैदिक) धर्म

२—जैन धर्म

३—बौद्ध धर्म

: १ :

हिन्दू (वैदिक) धर्म

हिन्दुस्तान में रहने वाले प्राचीन आर्यों का धर्म हिन्दू धर्म है। ये आर्य जो धर्म पालते थे तथा इसमें से कालक्रम में जिस धर्म का विकास हुआ, उस सबका हिन्दू धर्म में समावेश होता है।

हिन्दू धर्म की तीन शाखाएँ हैं—(१) वैदिक (ब्राह्मण) धर्म, (२) जैन धर्म, और (३) बौद्ध धर्म। जिस प्रकार एक ही मां-बाप के सब लड़के एक ही रूप-गुण के नहीं होते तो भी उनकी सामान्य आकृति, अवयव-विशेष और बोलने-चालने की रीति से हम जान सकते हैं कि ये सब भाई हैं, उसी प्रकार यह जाना जाता है कि ये तीनों शाखाएँ एक ही मूल धर्म की हैं।

इन तीन शाखाओं में से मुख्य शाखा इसके मूल ग्रन्थ से तथा मूल उपदेशकों के नाम पर—वेद धर्म अथवा ब्राह्मण धर्म कहलाती है। उसका मुख्य प्रमाण वेद है।

वेद का अर्थ है ज्ञान [१]। यह ज्ञान का शब्द ऋषियों को (परमात्मा के पास से) अन्तरात्मा में सुनाई पड़ा, इसलिए उसका दूसरा नाम श्रुति [२] (वेद) है।

२—समय बीतने पर ऋषियों ने प्राचीन धर्मोपदेश और संसार के रीति-रिवाज़ स्मरण में रखकर स्मृतियों की रचना की। उनमें कितनी ही—यह करना, यह न करना, इसको यह करना,

---

१ संस्कृत विद्—जानना धातु से।

२ संस्कृत श्रु—सुनना धातु से।

उसको वह करना इत्यादि नियम-रूपी थीं (धर्मशास्त्र)। दूसरी कितनी-एक में जीव जगत् और परमात्मा-सम्बन्धी विचार किये गए थे (दर्शन)। इसके बाद देव-ऋषि-राजा और अन्य महान् पुरुषों के चरित्र-सम्बन्धी, धर्म और व्यवहार के उपदेश से परिपूर्ण पुराणकथाएँ, इतिहास और आख्यानों की रचना की गई। ये भी प्रमाण मान लिये गए (इतिहास पुराण)। और अन्त में सन्त पुरुषों को अपने जीवन में और उपदेश में जिस धर्म का बोध हुआ उसको भी धर्म का सच्चा स्वरूप समझने के लिए काम में लाया गया (सन्त वाणी)।

इन ग्रन्थों का इतिहास तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) वेदयुग (२) संस्कृतयुग (३) भाषायुग। इन सबका स्वरूप आगे बतलाया जायगा।

वेद और उसके विभाग

वेद चार हैं—(१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद और (४) अथर्व वेद।

ऋग्वेद में 'ऋचाओं' का—देवताओं की प्रार्थना और स्तुतियों का—संग्रह है।

यजुर्वेद में अधिकतर देवताओं का यजन (यज्ञ-सम्बन्धी) वर्णन है।

सामवेद अधिकांशतः ऋग्वेद की ऋचाओं से ही बना है और इसमें इन ऋचाओं का गान है।

अथर्ववेद मूल 'अथर्वन्' नाम के ब्राह्मणों का वेद है। इसमें कितनी ही ऋग्वेद की ऋचाएँ हैं और उसके बाद अभिचार, उपचार आदि के प्रयोगों के मंत्र वगैरा हैं।

प्रत्येक वेद के तीन-तीन विभाग हैं—(१) संहिता (२)

ब्राह्मण और (३) आरण्यक तथा उपनिषद्। धर्म के जो तीन अंग—भक्ति, कर्म और ज्ञान—हैं, वे क्रमशः इन तीन विभागों में दृष्टिगोचर होते हैं।

संहिता में परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना है (भक्ति)।

ब्राह्मण में ब्रह्मन् नामक यज्ञ प्रधान रूप से है (कर्म)।

आरण्यक और उपनिषदों में, जिनमें अधिकांशतः अरण्य के भीतर यज्ञवाट में और जनपद के भीतर राजसभा में ऋषियों ने धर्म के रहस्य का चिन्तन किया है, जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार हैं (ज्ञान)।

ऋग्वेद संहिता का धर्म

जो धर्मद्रष्टा थे, तेजस्वी थे, तथा सामान्य लोगों की अपेक्षा धर्म के आचार-विचार में अधिक ऊँचे पहुँच चुके थे वे ऋषि[1] कहलाते थे। ऋषियों का हृदय ऊँचा और दृष्टि प्रतिभाशाली होने के कारण उनको इस विश्व और इसके विविध पदार्थों में चैतन्य की झलक दिखाई पड़ती थी और इसलिए उनको उन्होंने देव[2] कहा। इन पदार्थों के विविध गुण और कर्म के अनुसार उन देवों के भी उन्होंने अलग-अलग नाम रखे थे; और एक अनन्त पदार्थ में से ये विविध पदार्थ निकले हैं· इसलिए इस अनन्त

---

१. ऋषि—द्रष्टा—देखनेवाला—सत्य धर्म देखनेवाला—इस प्रकार पुराने संस्कृत टीकाकार अर्थ करते हैं। वैदिक 'ऋष्व' का अर्थ है ऊँचा अथवा दर्शनीय, तेजस्वी—इस शब्द के साथ भी ऋषि शब्द का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

२. दिव्—द्योतित करना, प्रकाशित करना से।

पदार्थ के देवता को उन्होंने देवमाता अदिति[3] कहा।

जिस प्रकार हम कभी-कभी मनुष्य के शरीर को और कभी-कभी उसकी आत्मा को मनुष्य कहते हैं, उसी प्रकार यह देव-वाचक शब्द भी कभी जड़-पदार्थों के अर्थ में और कभी उनमें रहनेवाले चैतन्य के अर्थ में लागू होता है। उदाहरण के लिए सूर्य के दो अर्थ हैं—उस नाम का आकाश में चमकता तेज का गोला और उस गोले में प्रकाशमान परमात्मा।

ऋषि इन देवों की स्तुति करते थे। इनसे धन-धान्य, पशु-पुत्र, आरोग्य, सद्बुद्धि, पवित्रता और देवकृपा वगैरा सब प्रकार की उत्तम वस्तुओं की याचना करते थे। वे मुख से प्रार्थना करते और यश गाते, उसी प्रकार यज्ञ की वेदी रचकर अग्नि जलाते, उसमें घी वगैरा पदार्थों का भी होम करते तथा दूसरे बलिदान देते थे। अग्नि 'देवों का दूत' कहलाया, क्योंकि इसके द्वारा यजमान और देवों के बीच सम्बन्ध स्थापित हुआ।

ये ऋषि परलोक का अस्तित्व मानते थे। पुनर्जन्म भी शायद मानते हों, ऐसा प्रकट करनेवाले कुछ अस्पष्ट वचन मिलते हैं। परन्तु मनुष्य इस लोक में से पितृलोक और देवलोक में जाते हैं उनकी यह मान्यता तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

इसके अलावा ये प्राचीन ऋषि 'यह विश्व कहाँ से आया', 'इसको किसने बनाया', 'किस तरह बनाया', आदि तत्त्व-विचार भी करते थे।

ऋग्वेद संहिता के धर्मवाचक शब्द

ऋषियों के धार्मिक विचार कैसे उत्तम थे, यह बतलानेवाले बहुत-से सूक्त ऋक्-संहिता में हैं। इतना ही नहीं, परन्तु सामान्य-

३ अदिति—इसका स्थूल भौतिक स्वरूप अखण्ड आकाश है और उसमें उत्पन्न होनेवाले सूर्य वगैरा तेजस्वी पदार्थ आदित्य-देव हैं।

तथा हम जिसको धर्म कहते हैं इसमें आये हुए उसके पर्याय-वाची शब्द भी विचारणीय हैं; जैसे कि—

(१) प्रथम तो 'धर्म' शब्द ही कैसा है ! धृ—धारण करना—इस धातु से बने इस शब्द का अर्थ उत्तम आचार-विचार, जिसकी सहायता से इस विश्व का धारण हो रहा है, होता है।

(२) दूसरा एक शब्द 'ऋत' है। इसका मूल अर्थ है सीधी रेखा, नियम। इस विश्व में सब प्रदार्थ ऋत के अनुसार, अथवा सीधी रेखा में, नियम के अनुसार काम करते हैं और मनुष्यों को भी 'ऋत' के अनुसार यानी सीधी रेखा में, नीति और धर्म के नियम के अनुसार चलाना चाहिए—यह वेद का कथन है।

(३) ब्रह्मन्—(बृह्—बढ़ना, बड़ा होना) यानी स्तुति, यज्ञ, धर्म का तत्व—जो विश्व में व्याप्त है और जिसके ऊपर विश्व के विकास का और विश्व की वृद्धि का आधार है।

(४) व्रत—(वृ—घेरना, छा जाना अथवा पसन्द करना) अर्थात् परमात्मा से घिरा हुआ, छाया हुआ जीवन अथवा वह जीवन जो परमात्मा को पसन्द है और इसलिए मनुष्य को भी पसन्द करना है।

(५) सव—(सू—उत्पन्न करना) परमात्मा की उत्पादक शक्ति ऋषि सविता के 'सव' में रहने की माँग करते हैं, यानी जड़ न पड़े रहकर, परमात्मा इस सृष्टि का जो विकास करता है उसमें भाग लेना चाहते हैं।

ऋग्वेद संहिता के देवता

अदिति—दिति से उलटा; अखण्ड, अभेद्य (जिसका छेदन-भेदन न किया जा सके) अनन्त तत्व जिसमें से आदित्य, देव

उत्पन्न होते हैं; देवमाता।

हिरण्यगर्भ—सुवर्ण-सदृश तेजयुक्त ब्रह्माण्ड में प्रकट होने वाली आत्मा, परमात्मा।

विश्वकर्मा—विश्व का कर्ता।

त्वष्टा—विश्व को बनानेवाला।

प्रजापति—सृष्टि का पति।

पुरुष अथवा विराट—विश्वरूप में विराजने वाली आत्मा, परमात्मा।

द्यौस् और पृथिवी—द्यौस्-दीप्यमान। तेजोमय आकाश, और पृथ्वी—विशाल, विस्तृत पृथ्वी, जगत् के पिता और माता।

अग्नि—यह मनुष्य को परमात्मा के साथ जोड़ने वाली दिव्य शक्ति है। इसके लिए ऋषि 'होता', 'पुरोहित', 'ऋषि', 'कवि' वगैरा विशेषण लगाते हैं। यह देवों को यज्ञ में बुला लाने वाला 'दूत' है—और घर-घर का गृहपति है।

वरुण—परमात्मा का सबको आवृत कर (घेरकर) रहने वाला सर्वज्ञ अन्तर्यामी स्वरूप है। यह राजा सम्राट् है। प्राणी-मात्र इसके नियम से बँधा है। इसका पवित्र नियम व्रत कहलाता है। यह नियम स्वयं पालता है और ऐसी ही इच्छा हम लोगों की ओर से भी करता है। प्राणीमात्र के अच्छे-बुरे काम वह देखता है—उसकी दृष्टि विशाल है। अन्तरिक्ष में उड़ने वाले पक्षियों का और समुद्र में फिरने वाले पोतों का मार्ग वह जानता है।

मित्र—सूर्य में प्रकाशित यह परमात्मा का स्वरूप प्राणीमात्र को उनके काम में अनुकूल होता है, उनको बुलाता है और उद्योग में लगाता है।

इन्द्र—यह परमात्मा का शक्तिमान् स्वरूप है। यह देवों का

राजा है। यह हाथ में वज्र धारण करता है और वृत्र, अहि वगैरह दैत्य और दानवों को मारकर जगत् को अन्धकार और दुःख से मुक्त करता है। वज्र द्वारा मेघों को छिन्न कर यह वृष्टि कराता है और आर्यों को युद्ध में विजय दिलाता है। पृथ्वी और आकाश भी इसका कमरबन्द होने के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

विष्णु—यह परमात्मा का सर्वगामी व्यापक स्वरूप है। इसका वीर्य, अतुल वीरत्व-भरे कर्म, असंख्य हैं। इसने तीन पदों में सारा विश्व नाप डाला है तथा वृत्र को मारने में इन्द्र की मदद करता है। आकाश में विस्तृत नेत्र की तरह स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है और जगत् को दिखलाई पड़ने वाला जो आदित्य-मंडल है वह विष्णु का परम पद है। इसका ज्ञानी पुरुष नित्य ध्यान करते हैं। यह आदित्य-जगत् का रक्षण करने वाला—'गोप' है। इसका धाम 'मधु' (मीठे आनन्द) के निर्भर से परिपूर्ण है।

सविता—परमात्मा की प्रेरक, उत्पादक, तेजोमय शक्ति का रूप है। गायत्री का महामंत्र जिसमें अपनी बुद्धि का प्रेरक परमात्मा के 'वरेण्य' तेज का ध्यान किया जाता है, तथा जिससे बुद्धि को प्रेरित करने के लिए प्रार्थना की जाती है, सविता देव का है। इस देव के नेत्र-हस्त वगैरा सब अवयव सुवर्ण के हैं। कुशल अँगुलियों से उसने यह जगत् बनाया है।

सूर्य—सूर्यदेव, इसके दूसरे नाम सविता, आदित्य हैं।

पूषा—सूर्यरूपी पोषक देव, यह परमात्मा का पोषक स्वरूप है। यह स्थावर और जङ्गम का नियन्ता और पालक है। भूले-भटके जानवर और खोई हुई चीजों को यह जानता है, और वापस ला देता है। यह मार्ग का रक्षक है और परलोक जाते जीवों के पथ का निर्देष्टा है। इसके अतिरिक्त पोषक देव के नाते

इसका एक मुख्यकृत्य लग्न-सम्बन्ध में है। यह कन्या को विवाह-संस्कार के लिए प्रस्तुत करता और उसे सुख देता है।

अश्विनौ—इनका दूसरा नाम 'नासत्यौ'—सत्यनिष्ठ है। इन देवों का युग्म (जोड़ा) परोपकार के अनेक कृत्य करता है। यह जोड़ा द्यौ और पृथ्वी, सूर्य और चन्द्र, सुबह और शाम, दिन और रात, अमुक दो तारे—इस प्रकार भिन्न-भिन्न रीति से लिया जाता है। परन्तु इनकी स्तुति में अधिकांशत: परोपकार के कृत्य ही नजर आते हैं—जैसे च्यवन नाम के ऋषि को इन्होंने यौवन दिया, ऋज्राश्व को दृष्टियुक्त किया, परावृज अन्धा और लूला था, उसको आँख और पाँव दिये। विश्पला का लड़ाई में पाँव टूट गया था, उसको लोहे का पाँव दिया। भुज्यु का पोत समुद्र के बीचों-बीच टूट गया, उस वक्त उसको डाँड़वाले वाहन में जिसमें पानी की एक बूँद न प्रवेश कर सके और मानो जो आकाश में उड़ रहा था, बिठाकर घर लाया। अपने कई परोपकार के कृत्यों के लिए इनको 'देवों का वैद्य' कहा जाता है और इनका जोड़ा है इससे इनका लग्न के साथ भी सम्बन्ध माना जाता है। वे स्त्री को पति देते है, पति को स्त्री देते हैं।

यम—इस जीवन के पार दूसरा—पर-जीवन है और वह अमृत जीवन है। इस जीवन में हमारे पूर्वज पितर गये हैं। इस जीवन का मार्ग प्रथम यम ने ढूँढ निकाला और इससे यम को पितृलोक का देव माना जाता है। यम विवस्वान्—सूर्य का पुत्र है। ये और उसकी बहिन यमी आद्य स्त्री-पुरुप का जोड़ा है।

रुद्र—विश्व में घोर शब्द करने वाला परमात्मा का स्वरूप है। वह प्रचण्ड वायु में दर्शन देता है। वायु रूप में यह सुगन्धि और पुष्टि बढ़ाने वाला भी है। भभकती अग्नि भी इसका ही रूप है। अग्नि की ज्वालाएँ इसकी देवियाँ हैं, धूम इसकी जटा

है। अग्नि कल्याणकारी भी है और इस रूप में यह आगे चलकर शिव बनता है।

मरुत—ये वायु इन्द्र की युद्ध में सहायता करते हैं।

वात—वायु।

पर्जन्य—वृष्टि का देव।

उषा—उषःकाल की मनोहर मूर्ति।

वास्तोष्पति—घर का देव।

क्षेत्रपति—खेत का देव।

ब्रह्मणस्पति—प्रभु के प्रति वाणी, स्तुति, यज्ञ और धर्म का दैवी तत्व ब्रह्मन् है। उसका अधिष्ठाता देव है ब्रह्मणस्पति! यह तत्व समस्त विश्व में व्याप्त है, इसके द्वारा ही विश्व वृद्धि पाता है और देवों का देवत्व भी इसके कारण है।

सोम—यह एक तरह की औषधि (वनस्पति) है। ऋषि इसकी पूजा करते थे और 'राजा' का विशेषण लगाते थे। यज्ञ में इसका विधिपूर्वक रस निकालकर पान करते थे। देवों के लिए यह रस बहुत प्रिय गिना जाता था, खासकर इन्द्र के लिए। जिस प्रकार सोम में से रस झरता है उसी प्रकार चन्द्रमा में से झरता है इससे चन्द्र के लिए भी 'सोम' शब्द प्रयुक्त होता है।

आपः—सिन्धु, सरस्वती, गंगा, यमुना। आपः अर्थात् जल का देवता और सिन्धु वगैरा उत्तर हिन्दुस्तान में रहने वाले आर्यों की मुख्य नदियाँ।

श्री—श्रद्धा—परमात्मा का आश्रय करने वाली, उसकी लक्षण-रूप शक्ति है श्री या लक्ष्मी। परमात्मा की शक्ति सुन्दर और मङ्गलकारिणी है इससे यह सब सौन्दर्य और माङ्गल्य की देवी है। भक्ति द्वारा परमात्मा में और उसके धर्म में सन्निद्ध विश्वास को श्रद्धा कहते हैं।

उद्धरण

यज्ञ का दिव्य पुरोहित ऋत्विज और होता अग्नि की, जो उत्तम रत्न धारण करने वाला है, मैं उसकी स्तुति करता हूँ।

जो बुद्धिमान् और युवा गृहपति पाँच जनों (पाँच वर्ग के लोगों) के सामने प्रत्येक गृह में विराजित है।

हे विश्वतोमुख (सब तरफ है मुख जिसका) तू सब तरफ से घेरकर बैठा है। हमारा पाप दूर कर।

× × ×

जिस तरह पिता पुत्र को अच्छा पारितोषक देता है उसी तरह तू हमको दे, हमारा कल्याण करने में सहकारी हो।

हे बलवान् इन्द्र ! जैसे इस अत्यन्त मधुर वाणी द्वारा पुत्र पिता का वस्त्र पकड़ता है उसी तरह मैं तुम्हारा पकड़ता हूँ।

× × ×

हे देव वरुण ! हम तो ऐसे सामान्य मनुष्य हैं कि प्रतिदिन हम तुम्हारे व्रत का भङ्ग करते हैं।

जिस प्रकार सारथी बँधे घोड़े को छोड़ता है उसी प्रकार हे वरुण, अपनी वाणी (स्तुति) द्वारा हम तुम्हारे मन को हमारे ऊपर दया करने के लिए छोड़ते हैं।

हमारी विविध वृत्तियाँ ठीक उसी तरह तुम्हारी ओर कल्याण की इच्छा से दौड़ती हैं जिस तरह पक्षी अपने घोंसले की तरफ दौड़ते हैं।

जो अन्तरिक्ष में उड़ते पक्षियों का मार्ग जानता है और समुद्र की नावों का मार्ग भी जानता है।

जो धृत व्रत (सत्य और पवित्रता का नियम स्वयं में और अन्य में धारण कराने वाला) वरुण बारह महीनों और उनकी प्रजा (दिनों) को तथा उसमें से उत्पन्न होने वाले (उनसे बड़े) मास को जानता है।

जो विशाल, ऊँचे और बड़े वायु के मार्ग को तथा उसके ऊपर जो (देव) रहते हैं उनको भी जानता है।

सुक्रतु (अच्छी कृति—प्रयत्न-शक्ति या कर्म वाला) धृत व्रत वरुण महलों में बैठा है और साम्राज्य करता है।

वहाँ से सब अद्भुत पदार्थों को जो निर्मित हो चुके और होने वाले हैं यह ज्ञानी (सर्वज्ञ वरुण) देखता है।

यह सुक्रतु आदित्य हमेशा हमारे लिए अच्छा मार्ग करे, हमारा आयुष्य बढ़ावे।

हिरण्यमय वस्त्र और कवच वरुण ने धारण किया है, और इसके आसपास इसके स्पर्श (इत, तेज की किरणें) बैठी हैं।

हमारी वृत्ति-रूपी गायें इसके वाड़ की ओर मुड़ें। ये उरुचक्षा (सबको देखने वाला, विशाल नेत्र वाला) वरुण को चाहतीं उसी की ओर वापस लौटती हैं।

हे मेधावी (ज्ञानी, सर्वज्ञ) वरुण ! तू आकाश और पृथ्वी का राजा है। हमको उत्तर दे।

हमारे सबके ऊपर से ऊपर का, बीच का, और नीचे का पाश (बंध) खोल जिससे हम जिन्दा रहें।

हे राजा वरुण ! मिट्टी के घर मैं न जाऊँ, दया करो, हे सुक्षत्र ! (सुन्दर, शुभ—बलवान राजा) दया करो।

हे वरुण ! हमने मनुष्य होकर दैवी लोगों के प्रति जो कुछ दोष किया हो, अज्ञान से तुम्हारा धर्म लोप किया हो इस पाप के लिए हे देव ! तू हमारे ऊपर गुस्सा न होना।

हम नित्य भूमि में रहते हैं और वरुण हमारा पाश (बन्धन) छोड़ दे। अदिति की गोद में से हम रक्षण माँगते हैं। तुम (देव) हमेशा स्वस्ति के द्वारा हमारा रक्षण करो।

× × ×

ज्ञानी और ऋत (नियम) के अनुसार चलनेवाले द्यौ और पृथ्वी ! पाप और दुःख से हमारा रक्षण करो।

मित्र, और लक्ष्मी से भरपूर वरुण की माता अदिति ! पाप और दुःख से हमारा रक्षण करो।

जब उषा दीखती है और सूर्य उदय होता है (अथवा अस्त होता है) तब, हे मित्र और वरुण ! तुम सोने के रथ में बैठते हो और वहाँ से अदिति को और दिति को देखते हो !

पहले हिरण्यगर्भ था—जो पदार्थ-मात्र का अकेला पति बना हुआ था; जिसने पृथ्वी धारण की और यह आकाश धारण किया; कैसे करें सेवा हवि द्वारा उस देव की ?

जो आत्मदायी (आत्मा देनेवाला) है, बलदायी है, जिसकी आज्ञा सब कोई पालन करता है, देव भी पालन करते हैं, अमृत जिसकी छाया है, मृत्यु जिसकी छाया है; कैसे करें सेवा हवि द्वारा उस देव की ?

अपनी महिमा के द्वारा जो प्राणधारी—(जंगम) जगत् का राजा बना हुआ है; दो पाँव वाले और चार पाँव वाले प्राणियों का जो ईश्वर है; कैसे करें सेवा हवि द्वारा उस देव की ?

जिसकी महिमा के कारण यह हिमालय पर्वत है; यह पृथ्वी, समुद्र और ये दिशाएँ जिसके हाथ में हैं; कैसे करें सेवा हवि द्वारा उस देव की ?

जिसके कारण द्यौ (दीप्त गगन-मण्डल) ऊँचा थमा हुआ है और पृथ्वी दृढ़ बनी है, जिससे सब थमा हुआ है और अन्तरिक्ष भी थमा है, जो अन्तरिक्ष में जल का बनाने वाला है; कैसे करें सेवा हवि द्वारा उस देव की ?

जिसके रक्षण पर टिके पृथ्वी और आकाश मन-ही-मन काँपते हुए जिसको देखते हैं, उदित सूर्य जिसके रक्षण में रहकर प्रकाश करता है; कैसे करें सेवा हवि द्वारा उस देव की ?

जब विशाल जलराशि गर्भ धारण करती हुई और अग्नि को उत्पन्न करती हुई विश्व में आई तब देवों का एक प्राण सर्वत्र था, कैसे करें सेवा हवि द्वारा उस देव की ?

जिसने अपनी महिमा से बनाये जल को चारों तरफ से देखा; जो जल दक्ष (कुशल, ज्ञानमय आत्मा) को धारण करता था और यज्ञ उत्पन्न करता था; जो देवों में एक अधिदेव था; कैसे करें सेवा हवि द्वारा उस देव की ?

सत्य धर्म का जो देव पृथ्वी का उत्पन्न करने वाला है; जिसने द्यौ उत्पन्न किया है; जिसने बड़ी मनोहर जलराशि उत्पन्न की है; कैसे करें सेवा हवि द्वारा उस देव की ?

हे प्रजापति ! तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई इन सब उत्पन्न हुए पदार्थों को व्याप्त नहीं कर रहा है। जिस इच्छा से हम तुम्हें बुलाते हैं वह हमारी इच्छा सिद्ध हो, हम लक्ष्मी के स्वामी हों।

दृश्यमान् जगत् के पिता और धीर (ज्ञानी) विश्वकर्मा ने मनके द्वारा यह जल उत्पन्न किया; तथा यह चलते द्यावा पृथिवी बनाये। इसने जब किनारे दृढ़ किये तब द्यावा पृथिवी फैले।

हजार मस्तकवाला, हजार आँखवाला, हजार पाँववाला पुरुष भूमि को सब तरफ से घेरकर दस अंगुल अधिक बढ़ा।

जो कुछ हुआ और जो कुछ होना है वह सब पुरुष ही है तथा उस अमृतत्व का वह अधिपति है जो अन्न द्वारा विशेष उत्पन्न होता है।

इतनी अधिक इसकी महिमा है तो भी यह उसकी अपेक्षा भी अधिक है। सर्व भूत-मात्र इसका एक पाद (चौथा भाग) है, इसका तीन पाद तो अमृत है जो द्युलोक में है।

तीन पाद ऊँचा कर पुरुष खड़ा है परन्तु उसका एक पाद यही है। उसके द्वारा चेतन और अचेतन इसने घेर रखा है।

ब्राह्मण इसका मुख था; क्षत्रिय इसका हाथ था; वैश्य इसका ऊरु था; और पद में से शूद्र उत्पन्न हुआ।

चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ, नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुआ। मुख से इन्द्र और अग्नि; प्राण से वायु उत्पन्न हुआ; नाभि से अन्तरिक्ष हुआ, मस्तक से द्यौ (आकाश) निकला, पैर से पृथ्वी; कान से दिशाएँ—इस तरह लोक की रचना हुई।

देवों ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ का (यजन करने योग्य परम पुरुष का) यजन किया—यह प्रथम धर्म था।

सचमुच कौन जाने यह (विविध) सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई, कहाँ से आई? देव उसके उत्पन्न होने के बाद हुए। यह कहाँ से आई—इसको कौन जान सकता है?

वह क्या वन था या वृक्ष जिसमें से द्यावा पृथिवी बनाई गई? बुद्धिशाली मनुष्यो! मन द्वारा उसका विचार करो कि भुवनों को धारण करने वाला, उन पर (अधिष्ठाता रूप से) रहने वाल कौन है?

ब्रह्म वन था, ब्रह्म झाड़ था जिसमें से द्यावा पृथिवी बनाई। विज्ञ मनुष्यो! विचार कर कहता हूँ कि भुवनों को धारण करने वाला उन पर (अधिष्ठातृ रूप से) रहने वाला यही ब्रह्म था।

[ऋग्वेद संहिता]

दूसरे वेदों की संहिताओं का धर्म

यज्ञ में मुख्य चार ऋत्विज काम करते थे—होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। इनके लिए वेद की चार संहिताएँ हुईं—ऋक्, यजु, साम और अथर्व संहिता।

यज्ञ में अध्वर्यु के हिस्से में यज्ञ की क्रिया करवाना था। इसलिए यजुर्वेद की संहिता में यज्ञ प्रधान रूप से है। सामवेद

की संहिता में ऋग्वेद की २२ ऋचाओं का गान का योग है, इसके अलावा दूसरी कोई नवीन बात नहीं है। इस वेद का उपयोग प्रचुर मात्रा में सोमयाग में होता है।

अथर्व संहिता में बहुत-कुछ नया जानने योग्य है। कितने ही विषय इसमें ऐसे हैं जो दूसरे किसी वेद में नहीं हैं। उदाहरण के लिए—ताप, क्षय, वगैरा रोग हटाना, साँप वगैरा का जहर उतारना, शत्रु को मारना, तांत्रिक प्रयोग करना, और हमले को रोकना इत्यादि अनेक विषयक जादू-टोने व उपचार आदि के मंत्र अथर्व संहिता में हैं। सम्भव है ये सब आर्यों के अज्ञान और निम्न वर्ग की क्रियाएँ हों अथवा आर्यों के अनार्यों के साथ सम्बन्ध में आने के बाद अनार्यों के मूल धर्म की आर्यों में प्रविष्ट होने के सूचक हों। परन्तु इसके अतिरिक्त इस संहिता में बहुत अच्छे भाग भी हैं।

उद्धरण

दशवृक्ष! इसको राक्षस और ग्राही (पिशाची) से छुड़ाओ जिसने इसको चपेट रखा है। हे वनस्पति! इसको जीवलोक में उठा लाओ।

हे अरुन्धति! उसको क्षय नहीं छूता और शाप (अथवा मूठ) नहीं लगता, जिसको गूगल रूपी औषधि की सुगन्ध व्याप्त कर रही है।

मैं तुम्हारा एक-मन, एक-हृदय, और द्वेष-नाश करता हूँ। एक दूसरे के पास जाओ, जिस प्रकार सद्यजात बछड़ा गाय के पास जाता है उसी प्रकार पुत्र पिता के अनुकूल रहे; माँ के साथ एक-मन करे; स्त्री शान्ति से पति के प्रति मीठी वाणी बोले; भाई-भाई का द्वेष न करे, बहन बहन से द्वेष न करे, इकट्ठे होकर एकव्रत (प्रतिज्ञा, नियम) वाले होकर शुभ रीति से वाणी बोलें.......जो बुजुर्ग हैं, बुद्धिशाली हैं वे अलग न हों।

इकट्ठे होकर सुख भोगते हुए और इकट्ठे होकर कर्तव्य-धुरा वहन करते हुए घूमो। एक-दूसरे के साथ सुन्दर वाणी बोलो—आओ, मैं तुमको इकट्ठा मिला दूँ—एक-मन कर दूँ।

सास-ससुर वगैरा के लिए सुखकारी होओ। घर को (घर के सब लोगों को) सुखकारी होओ। इस सब लोक के लिए सुखकारी होओ। जिस प्रकार इनकी पुष्टि (वृद्धि) हो उस तरह सबको सुखकारी होओ।

सत्य पर पृथ्वी टिक रही है। सूर्य पर आकाश टिका हुआ है। ऋत पर आदित्य खड़ा हुआ है; द्यौलोक में सोम रहता है।

अदिति द्यौ है; अदिति अन्तरिक्ष है; अदिति माता है, वही पिता है, वही पुत्र है। सब देव अदिति हैं। पंचजन्य अदिति हैं। जो उत्पन्न हुए हैं और जो होंगे वे सब अदिति हैं।

विशाल सत्य, उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म, यज्ञ—ये पृथ्वी को धारण करते हैं। भूत और भव्य (हुआ और जो होगा)—इस सबको रानी पृथ्वी हमारे लिए विस्तृत लोक करे।

यह पृथ्वी जिसका अमृत हृदय परम व्योम (आकाश) में व्याप्त है और सत्य से आवृत है इस उत्तम राष्ट्र में हमको तेज और बल दे।

इस जगत् का महान् अधिष्ठाता मानो पास रहकर देख रहा है। कोई समझता है कि मैं यह चोरी से (चुपचाप) करता हूँ परन्तु वह सब देव जानता है। दो जनें इकट्ठे होकर जो मंत्रणा (बात) करते हैं उसको तीसरा—वरुण राजा—जानता है।

यह भूमि वरुण राजा की है; वह विशाल द्यौ (चमकता गगन-मंडल) ठेठ अन्त तक इसका है। यह दो समुद्र (अन्तरिक्ष और समुद्र) वरुण की कोख हैं; और यह थोड़े जल (पोखरी) में छिपा हुआ है। यहाँ से भागकर यदि कोई दूर आकाश में जाय तो कोई वरुण राजा से नहीं बचता.........

प्राणियों के नेत्र भी इसने गिन लिये हैं.........हे वरुण, तेरे सात-सात और तीन गुने पाश हैं वे सब असत्यवादियों को बाँध लें, और सत्यवादी को छोड़ दें।

[अथर्ववेद संहिता]

ब्राह्मण

'ब्रह्मन्' नाम का जो धर्म का तत्व है उसका स्थूल आकार यज्ञ की क्रियाएँ हैं। इन क्रियाओं का रहस्य 'ब्राह्मण' नाम के ग्रन्थों में बतलाया गया है। जिस प्रकार ऋग्वेद संहिता में परमात्मा की अर्चा के सूक्त हैं उस तरह इसमें नहीं हैं। परन्तु जिस यज्ञ प्रसंग में ये सूक्त बोले जाते थे उसके लिए जरूरी क्रियाओं, विविध देवताओं के नाम तथा स्वरूप के विषय में इसमें खुलासा किया गया है; तथा उन आख्यायिकाओं (वार्ताओं) का भी वर्णन है जो इस खुलासे के लिए उपयोगी हों। यह ऊपर से जाना जाता है कि प्राचीन ऋषियों के यज्ञ सिर्फ अर्थ-हीन तांत्रिक क्रियाएँ ही न थीं परन्तु इनमें ऋषि अपने कितने ही धार्मिक विचार मूर्तिमान करते थे।

श्रौत (श्रुति में कथित) यज्ञ के दो प्रकार थे—हविर्यज्ञ और सोम याग। हविर्यज्ञ सादा और घर में किया जा सकता था। इसमें अधिकांशतः दूध, घी, धान्य वगैरा पदार्थ अग्नि में होम कर देवों को अर्पण किया जाता था। सोमयाग बड़ा यज्ञ था—इसमें लोगों के समूह-के-समूह भाग लेते और प्रचुर धन खर्च किया जाता। राजसूय और अश्वमेध—ये दो इसके प्रख्यात प्रकार हैं।

ब्राह्मण-युग में वैदिक धर्म कर्मजल से बहुत छा गया था, परन्तु उसीके साथ प्राचीन एकेश्वर भावना भी नजर आती है।

ऋषि प्रजापति रूप से एक परमात्मा का भजन करते; और यज्ञ इस विश्व का स्वरूप है, ऐसा समझा जाने लगा तथा इसी समझ से यज्ञ की कितनी क्रियाएँ गढ़ी गईं।

उद्धरण

वेदी के बराबर पृथ्वी है। दर्भ औषधि (वनस्पति) है। इस पृथ्वी में जो औषधियाँ रखी जाती हैं वे इस पृथ्वी के ऊपर रहती हैं। चूँकि इसके ऊपर दर्भ बिछी है, इसलिए कहते हैं कि खूब दर्भ बिछाओ।

वही इन्द्र है जो (सूर्य) तपता है, वही वृत्र है जो चन्द्रमा है।

वह अग्निदेव है। उसका नाम शर्व है। पूर्वदेश के लोग कहते हैं कि उसमें भव है; बाहीक भी वैसा कहते हैं कि वह पशुओं का पति रुद्र है। और अग्नि इसका दूसरा अशान्त (घोर, विकराल) नाम है। अग्नि ही अत्यन्त शांत नाम है।

हे गृहपति अग्नि! तुम्हारे—गृहपति के—बल पर मैं सद्-गृहपति होऊँ। ओ अग्नि! मेरे—गृहपति के—भरोसे तू अच्छा गृहपति हो।

सूर्य अग्निहोत्र है; यह इस आहुति के आगे (पहले) उदित होता है इसलिए सूर्य अग्निहोत्र है।

सब कोई ऋणी (देनेवाला) ही उत्पन्न होता है, जो जन्म लेते हैं वे देवों, ऋषियों, पितरों और मनुष्यों का ऋण (देना) लेकर ही जन्म लेते हैं।

यह यजन करता है, क्योंकि देव के प्रति ऋण लेकर जन्मता है। यह अध्ययन करता है, क्योंकि ऋषियों के प्रति ऋण लेकर जन्मता है। यह प्रजा चाहता है, क्योंकि पितरों के प्रति ऋण लेकर पैदा होता है। यह अतिथि को वास और अन्न देता है क्योंकि मनुष्यों के प्रति ऋण लेकर पैदा होता है।

[शतपथ-ब्राह्मण]

देवों ने पुरुष को पशु बनाकर यज्ञ में मारा। इसको मारने पर इसमें से मेध (पवित्र यज्ञीय अंश) निकला और उसने अश्व में प्रवेश किया; गौ में प्रवेश किया; बकरे में प्रवेश किया; भेड़ में प्रवेश किया; व्रीहि (धान) में प्रवेश किया। यह पुरोडाश काटा जाता है तो वह पशु ही काटा जाता है। इसके (धान के) रेशे रुएँ हैं, छाल चमड़ी है।

[ऐतरेय ब्राह्मण]

ऋषि सरस्वती के पास यज्ञ करने बैठे थे। उन्होंने कवष ऐलूष को सोम के सामने से यह कहते हुए कि 'अरे दासीपुत्र ! लुच्चा ! अब्राह्मण होकर तू किस तरह (यज्ञ के बीच में दीक्षा लेकर बैठा है ?' निकाल दिया। ऐसा कहकर इसको देश-पार मरुदेश में ले जाकर रखा, यह सोचकर कि भले ही यह प्यासा मर जाय लेकिन इसको सरस्वती का पानी पीने को न मिले। उसने इस निर्जल प्रदेश में देशनिकाला पाकर 'अपोनप्त्रीय' सूक्त देखा और जल का मनोहर स्थान इसके पास आया। जल इसके पास आया। सरस्वती इसके आस-पास फिरने लगी।

ऋषि बोले—"इसको देवों ने पहचाना इसलिए आओ, हम लोग इसको बुलाएँ।"[1]

[ऐतरेय ब्राह्मण]

प्रजापति यज्ञ है। इसमें सब कामनाएँ, सब इच्छाएँ, सारा अमृतत्व भरा है।

[गोपथ ब्राह्मण]

---

१. सामान्य शूद्र को यज्ञ में स्थान न था, परन्तु विद्वान् और देव के कृपाभाजन शूद्र को ब्राह्मण भी मान देते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थ धर्म के संक्रान्ति-काल का चित्रण करते हैं।

आरण्यक और उपनिषद्

ऊपर वेद के तीन विभाग बताये, उनमें (१) संहिता और (२) ब्राह्मण तत्पश्चात् (३) आरण्यक और उपनिषद्। जिस तरह कई-एक बार संहिता के साथ ब्राह्मण भाग कथित दिखलाई पड़ता है उसी तरह कई-एक बार ब्राह्मण के साथ आरण्यक और उपनिषद् भी अविच्छेद्य-रूप से जुड़े हुए दीखते हैं। तीनों मिल-कर वेद कहलाते हैं। परन्तु आरण्यक और उपनिषद् में वेद का 'अन्त' भाग या सिद्धान्त भरा है, इसलिए इसको वेदान्त नाम भी दिया जाता है।

गाँव-घर छोड़कर, अरण्य (वन) में जाकर, धर्म के तत्व का चिन्तन करने वाले लोगों के ग्रन्थ आरण्यक हैं। ब्राह्मण में यज्ञ के देवताओं तथा क्रियाओं का जो गूढ़ अर्थ समझाने का प्रयत्न शुरू हुआ है वह आरण्यक में आगे बढ़ता है। यज्ञ के रूपक (आकार) में ऋषि इस विश्व (पिण्ड और ब्रह्माण्ड) का गूढ़ सत्य और क्रियाएँ देखता है और इस तरह धर्म का तत्व विचारते-विचारते वे उपनिषद् में वर्णित उत्तम तत्व-ज्ञान में प्राप्त करते हैं। इस तरह आरण्यक, ब्राह्मण और उपनिषद् के बीच की कड़ी है।

उपनिषद् शब्द का बहुत तरह से अर्थ किया जाता है। परन्तु सब का निष्कर्ष इतना ही है कि अज्ञान का नाश कर, परमात्मा के पास पहुँचाने वाली विद्या जिसमें वेद का सच्चा रहस्य भरा है, उपनिषद् है। मूल उपनिषद् की संख्या में कालक्रम में बहुत वृद्धि हो गई है, जैसे उपनिषद् के नाम से एक अल्लोपनिषद् भी बना डाला गया, परन्तु इन नए उपनिषदों को जो अधि-कांशतः अथर्ववेद के साथ जुड़े हैं प्राचीन उपनिषदों से अलग करना बहुत कठिन नहीं है।

उपनिषद् का विषय के अनुसार यदि विभाग किया जाय

तो चार विभाग हो सकते हैं—(१) जिनमें ज्ञान मुख्य है; (२) जिनमें योग का वर्णन है; (३) जिनमें वैराग्य (संन्यास) का उपदेश किया गया है, और (४) जिनमें भक्ति के लिए शिव और विष्णु की अलग-अलग नाम से महिमा गाई गई है।

इन सबमें अधिक-से-अधिक प्राचीन उपनिषद् ज्ञान के लिए आवश्यक हैं। इनमें जीव, जगत् और परमात्मा के स्वरूप के विषय में बहुत रसिक आख्यायिकाएँ कहकर तथा सरल दृष्टांत देकर ज्ञान कराया गया है। इनका संक्षेप में सार इस तरह है—

(१) जीव पंच महाभूत से बने जड़ पदार्थों से भिन्न है।

(२) ये जड़ पदार्थ—सजीव और निर्जीव परमात्मा में से उत्पन्न हुए हैं, परमात्मा के बल पर टिके हुए हैं, और अन्त में परमात्मा में मिल जाते हैं।

(३) परमात्मा पिण्ड और ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, जगत् और जीव का अन्तर्यामी है।

(४) जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध बहुत गाढ़ा और निकट का है; एक अज्ञ है दूसरा सर्वज्ञ है परन्तु दोनों एक ही तत्व है।

(५) इस परमात्मा का साक्षात्कार (प्रत्यक्ष अनुभव) मन इन्द्रियों वगैरह को वश में करके, सदाचार से चलकर, इसका अनुग्रह प्राप्त कर, इसका यथार्थ (सत्य) ज्ञान पाकर हो सकता है।

(६) इसके लिए उपनिषद् वगैरह, उसके ज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थों का श्रवण करना; श्रवण करके उसके ऊपर मनन करना और अन्त में निर्णय को पकड़कर ध्यान करना।

(७) जो इस ज्ञान को प्राप्त कर ले वह 'ब्राह्मण' है और जो प्राप्त किये बिना ही रहे उसको कृपण (दयापात्र) समझना।

(८) मनुष्य की कर्म के अनुसार गति होती है, पुण्य कर्म से

यह पुण्यशाली होता है और पाप कर्म से पापरूप होता है। सत्पुरुष के लिए मरण के बाद दो मार्ग हैं जिसमें से एक चन्द्र-लोक और दूसरा ब्रह्मलोक को जाता है। उनमें से पहला मार्ग धूम-मार्ग कहलाता है, क्योंकि वह यज्ञ याग का मार्ग है और दूसरा मार्ग 'अर्चि-मार्ग' यानी प्रकाश का मार्ग कहलाता है क्योंकि वह ज्ञान का मार्ग है। जिसको परमात्मा का साक्षात्कार हो गया उसके लिए मरण नहीं; उसके लिए जन्म-जन्मान्तर का फेरा नहीं रहता।

उद्धरण

श्वेतकेतु आरुणेय को उसके पिता ने कहा—"तात! विद्या पढ़ लो। अपने कुल में अशिक्षित केवल ब्रह्मबन्धु (अर्थात् सिर्फ इतने से ही ब्राह्मण कि उसके माता-पिता और सगे-सम्बन्धी ब्राह्मण थे) कोई नहीं रहा।" श्वेतकेतु गुरू के यहाँ बारहवें वर्ष में जाकर बारह वर्ष रहकर विद्या पढ़ आया। एक दिन पिता ने पूछा—श्वेतकेतु! तुम्हारी बुद्धि तो बहुत बढ़ गई है। तू वेद पढ़ने का अभिमान रखता है और अकड़ता नजर आता है। तो मैं जो पूछूँ उसका जवाब दो। बतला तूने कभी गुरू से पूछा कि ऐसी कौनसी वस्तु है जिसको जान लेने से सब जान लिया जाता है? देखो, एक मिट्टी के गोले को अच्छी तरह जान लेने से मिट्टी के सब पदार्थों को जान लिया जाता है, क्योंकि विकार सिर्फ नाम है, वाणी द्वारा खड़ा किया गया है वस्तुतः अकेली मिट्टी सत्य है। उसी तरह एक लोहा जान लेने से लोहे के सब पदार्थ जान लिए जाते हैं। इस तरह तू कोई ऐसा पदार्थ जानता है जिसको जानने से सब जान लिया जाता है?" श्वेत-केतु ने उत्तर दिया—"पिताजी, नहीं, शायद मेरे गुरू ही इसको न जानते हों। अगर जानते होते तो मुझे बिना बताये कैसे रहते?"

तत्पश्चात् पिता ने श्वेतकेतु को ब्रह्म का उपदेश किया। यह ब्रह्म सर्व वस्तुओं में सूक्ष्म रूप से घुसा हुआ है—यह बात उसने विविध दृष्टान्तों से श्वेतकेतु को बताई।

पिता कहता है—"हे श्वेतकेतु ! देखो, इस वृक्ष के मूल में यदि घाव किया जाय तो इसमें से रस निकलेगा, क्योंकि वहाँ जीवन है। इसके बीच में किया जाय तो भी इसमें से रस निकलेगा। और अगर इसके सिरे पर घाव किया जाय तो भी रस निकलेगा, क्योंकि वृक्ष जीता है। परन्तु यदि इसकी एक शाखा में से जीव चला जाय तो वह सूख जाय, दूसरी में से चला जाय तो वह सूख जाय, और इस तरह एक के बाद एक करके सारे वृक्ष में से जीव चला जाय तो सारा वृक्ष सूख जाय। तब इससे यह समझना चाहिए कि यह जीवविहीन हो गया, यानी मर गया—जीव स्वयं नहीं मरता। इन सब पदार्थों में सूक्ष्म तत्वरूप से यह व्याप्त है। इस सबका यही आत्मा है और यही तू स्वयं है।"

"दूसरा उदाहरण लो। उस बड़ का फल लाओ और उसको तोड़ो। तोड़कर देखो उसमें क्या है?" श्वेतकेतु ने उसको लाकर तोड़ा और अन्दर देखा तो सूक्ष्म दाने दिखलाई पड़े। पिता से कहा—"पिताजी ! इसमें तो बारीक दाने हैं।" पिता बोला—"ठीक ! अब इसमें से एक दाना लेकर तोड़ो और देखो उसमें क्या दीखता है?" श्वेतकेतु ने देखा परन्तु बहुत बारीक होने से कुछ दिखाई न पड़ा। तब उसने पिता से कहा—"पिताजी ! कुछ दीखता नहीं।" पिता बोला—"तब समझो कि कुछ दीखता नहीं, तब भी उसमें ही सारा बड़ का वृक्ष समाया हुआ है। उसी तरह विश्वास रखो कि ब्रह्म सूक्ष्म तत्वरूप से सबमें समाया हुआ है। सबकी वह आत्मा है; वह सत्य है। वह आत्मा तू स्वयं है।"

"और एक उदाहरण लो, इस पानी में एक नमक की डली डालो और सवेरे उसको लेकर मेरे पास आना।

श्वेतकेतु ने उसीके अनुसार किया। पिता ने श्वेतकेतु से कहा—तात, वह नमक लाओ। श्वेतकेतु—वह तो पानी में मिल गया है। पिता—इसको ऊपर से पियो और बतलाओ कैसा लगता है। श्वेतकेतु—खारा। पिता—बीच से पियो, कैसा लगता है? श्वेतकेतु—खारा। पिता—बिलकुल नीचे से पियो, कैसा लगता है? श्वेतकेतु—खारा। पिता ने कहा—देखो, इस पानी की बूँद-बूँद में नमक भर गया है परन्तु वह दीखता नहीं, तो भी है जरूर। उसी तरह ब्रह्म सब वस्तुओं के आदि, मध्य और अन्त में समाया हुआ है जो कि सूक्ष्म होने से मालूम नहीं पड़ता। इस सब का वह आत्मा है। वह सत्य है; वह आत्मा तू स्वयं है।"

× × ×

शाकल्य ने इससे (याज्ञवल्क्य से) पूछा—हे याज्ञवल्क्य, कितने देव हैं?

याज्ञवल्क्य—उतने जितने कि वैश्वदेव की निविद् (मंत्र) में कहे गए हैं।

शाकल्य—हे याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं?

याज्ञवल्क्य—३३[1]

शाकल्य—हे याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं?

याज्ञवल्क्य—छः

शाकल्य—हे याज्ञवल्क्य, कितने देव हैं?

---

१. ८ वसु (अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, नक्षत्र) + ११ रुद्र (१० प्राण + १ आत्मा) + १२ आदित्य (१२ मास) + १ इन्द्र + १ प्रजापति (यज्ञ) = ३३

याज्ञवल्क्य—तीन
शाकल्य—हे याज्ञवल्क्य, कितने देव हैं ?
याज्ञवल्क्य—दो
शाकल्य—हे याज्ञवल्क्य, कितने देव हैं ?
याज्ञवल्क्य—डेढ़
शाकल्य—हे याज्ञवल्क्य, कितने देव हैं ?
याज्ञवल्क्य—एक[1]

× × ×

जिसमें से यह भूत (सजीव और निर्जीव पदार्थ) उत्पन्न हुआ है, जिसके भरोसे उत्पन्न होकर जीता है, जिसके प्रति जाता है, जिसमें प्रवेश करता है—वह आत्मा सब भूतों का राजा है। जिस तरह रथ के पहिये की धुरी में और उसके घूमते चक्र में आरा मौजूद है उसी तरह इस आत्मा (परमात्मा) में सब भूत, सब देव, सब लोक, सब प्राण, सर्व आत्मा (जीवात्मा) विद्यमान है।

जो पृथ्वी में रहते हुए भी पृथ्वी से जुदा है, जिसको पृथ्वी नहीं जानती, पृथ्वी जिसका शरीर है, जो पृथ्वी के अन्दर और उससे अलग रहकर उसका नियमन करता है—यह अमृत अन्तर्यामी मेरी आत्मा है।

हे गार्गि, सूर्य और चन्द्र इसकी आज्ञा पालन कर अपने-अपने स्थान पर टिके हुए हैं। वहाँ सूर्य नहीं प्रकाशित होता, चन्द्र और तारे नहीं प्रकाशित होते, बिजलियाँ नहीं प्रकाश करतीं। यह अग्नि तो कहीं से भी उत्पन्न हो जाती है। इसके प्रकाशित होने के बाद सब प्रकाशित होते हैं, इसके तेज से यह सब दीप्त हैं।

यद्यपि जिसके हाथ नहीं, पाँव नहीं तो भी जो दौड़ता है

1. ब्रह्म

और पकड़ता है, आँख न होते हुए भी जो देखता है, कान न होते हुए भी जो सुनता है, जो जानने योग्य है वह जानता है लेकिन उसको कोई जानता नहीं—उसको आद्य महान् पुरुष, (परमात्मा) कहते हैं।

दो सुपर्ण (सुन्दर पंखवाले पक्षी) जोड़ुआ और सखा—एक ही वृक्ष पर बैठे हैं। उसमें से एक मीठा फल खाता है और दूसरा नहीं खाता, सिर्फ देखा करता है।

हे श्वेतकेतु! वह तू है। इस सबकी वह आत्मा है। यह सब सचमुच ब्रह्म है। ब्रह्म ज्ञान और आनन्द स्वरूप है। ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त रूप है।

× × ×

एक बार नचिकेता ने अपने पिता को यज्ञ में बूढ़ी, कुबड़ी और दुग्धहीन गायें देता देखकर विचार किया कि "पिताजी को जो व्यर्थ लगती हैं उनका दान करते हैं, परन्तु प्रिय वस्तुएँ नहीं देते। इस तरह दान करना उचित नहीं।" इसलिए उसने पिता से कहा—"पिताजी, आप मुझको किसको देंगे?" एक बार कहा, दुबारा कहा इसलिए पिता ने चिढ़कर उत्तर दिया—"तुमको यम को दूँगा।"

नचिकेता ने विचार किया कि यह धान्य जिस तरह उगता है और पकता है (और काटा जाता है) उसी तरह मनुष्य भी जन्मता है और मरता है—बहुत मर गये और बहुत मरेंगे। ऐसा विचारकर वह खुशी से यम के घर गया। उस समय यमराज घर पर नहीं थे। तीन दिन उसको यम के घर भूखे-प्यासे बाट देखते बैठा रहना पड़ा। यम ने घर आकर नचिकेता को देखा, अतिथि के तौर पर उसका सत्कार करने में विलम्ब हुआ—इसके लिए उससे क्षमा माँगी और तीन वरदान माँगने के लिए कहा। तब नचिकेता ने तीन वरदान माँगे—"हे यमराज, मेरे

पिता मेरे ऊपर जो क्रुद्ध हो गए हैं सो शान्त हो जायँ और तुम जब मुझको उनके पास भेजो तब वह मुझे खुश होकर बुलावें —यह मैं पहला वरदान माँगता हूं। दूसरा वरदान यह माँगता हूँ कि जो स्वर्ग की अग्नि है उसका स्वरूप; मुझे समझाओ और मेरा तीसरा वरदान यह है कि मरने के बाद मनुष्य का क्या होता है वह मुझे समझाओ; कोई कहता है वह रहता है, कोई कहता है वह नहीं रहता। इसलिए सचमुच उसका क्या होता है वह मुझे समझाओ।"

यमराज ने उसकी पहली माँग स्वीकार की। दूसरा वरदान भी दिया और कहा कि तुम्हारे नाम पर इस अग्नि का नाम 'त्रिणाचिकेत अग्नि' पड़ेगा। परन्तु तीसरे वरदान के सम्बन्ध में कहा कि "नचिकेता, इसकी बाबत तो देव भी संशय में हैं। यह विषय बहुत सूक्ष्म है। इसका जानना सरल नहीं है। इसके बदले कोई दूसरा वरदान माँगो।" यह कहकर शत वर्ष जीवी पुत्र-पौत्र, हाथी-घोड़ा-रथ-खजाना-महल-स्त्रियाँ-आयुष्य वगैरा असंख्य चीजें इस तीसरे वरदान के बदले में उसको देने लगा परन्तु नचिकेता ने उनको लेने से साफ इनकार कर दिया और जोश में कहा— "महाराज! ये हाथी घोड़े, नाच-गान सब तुम्हीं को मुबारक हों; मुझे तो सारा जीवन थोड़ा लगता है। द्रव्य से मनुष्य को तृप्ति नहीं होती। द्रव्य तो मिल ही जायगा और जीवन भी मिलेगा, परन्तु मुझे तो सिर्फ एक-वरदान चाहिए और वह है कि मैं आत्मा का सच्चा स्वरूप जानूँ।" यमराज नचिकेता का ऐसा शुभ आग्रह देखकर राजी हो गए और आत्मा का स्वरूप तथा उसको पाने का सच्चा मार्ग क्या है, वह सब उसको विस्तार से समझाया।

× × ×

मैत्रेयी बोली—"हे भगवन्! अगर यह सारी पृथ्वी धन से पूर्ण हो तो क्या उससे अमृत मिल सकता है?" याज्ञवल्क्य ने

उत्तर दिया—"नहीं, धन द्वारा अमृतत्व मिलने की आशा नहीं है।" तब मैत्रेयी ने कहा—"जिसके द्वारा अमृतत्व न मिले उसको प्राप्त कर मैं क्या करूँगी ?"

× × ×

सत्य बोलो; धर्म का आचरण कर; स्वाध्याय (अपने अध्ययन) में प्रमाद न कर। माता को देव गिन। पिता को देव गिन, आचार्य को देव गिन, अतिथि को देव गिन; जो दोष रहित कर्म हों उन्हीं को करना दूसरे नहीं; हमारे जो अच्छे आचरण हों उनका तू अनुचरण कर।

जो दुराचरण से रुका नहीं, जो शान्त नहीं हुआ और जो परमात्मा में एकाग्र नहीं हुआ, जिसका मन शान्त नहीं हुआ, वह उत्तम ज्ञान प्राप्त करके भी इसको (परमात्मा) नहीं पाता।

जिसने आत्मा को पा लिया है वह ठीक उसी तरह है जिस तरह घोड़ा बाल झटकारता है अथवा चन्द्र राहु के मुँह से छुटकारा पाता है; पाप से छूटकर, शरीर को झाड़कर नित्य ब्रह्म लोक को पाता है।

धर्म के तीन स्तम्भ हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। इन तीनों को सीखो—दम, दान और दया। तप, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन—ये उसकी दक्षिणा है।

यह आत्मा (परमात्मा) प्रवचन (व्याख्यान) से नहीं मिलता, बुद्धि से नहीं मिलता, बहुत-से ग्रन्थों के श्रवण से भी नहीं मिलता; जिसको वह पसन्द करता है वही उसको प्राप्त कर सकता है, उसको ही यह आत्मा अपना स्वरूप प्रकट करता है।

इस आत्मा को जानकर ब्राह्मण पुत्र की, धन की और परलोक की इच्छा छोड़कर—घर छोड़कर—भिक्षा (प्रव्रज्या, सन्यास) को आचरित करता है। यह यज्ञ रूपी नाव टिकाऊ नहीं है।

श्रुति—स्मृति—वेदांग—सूत्र

हिन्दू धर्मशास्त्र के दो भाग किये जाते हैं—श्रुति और स्मृति। जो परमात्मा के पास साक्षात् सुनी गई वह 'श्रुति' और श्रुति को स्मरण में रखकर तथा उसमें बताये गए विषयों का विचार करके जो शास्त्र रचा गया वह है 'स्मृति'। अब तक, वेद की संहिता से लेकर उपनिषद् तक जो शास्त्र बताये गए वे 'श्रुति' कहलाते हैं और उसके बाद जो संस्कृत-काल की पुस्तकें आती हैं वे स्मृति कहलाती हैं।

'श्रुति' सुनी और 'स्मृति' स्मरण की—इसलिए स्मृति की अपेक्षा श्रुति अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। परन्तु वर्तमान काल में जो श्रुतियाँ देखने में आती हैं उनकी अपेक्षा पहले अधिक थीं, जिनमें से कई एक लुप्त हो गई हैं और उनका स्मरण-मात्र स्मृतियों में रह गया है, ऐसा माना जाता है। इसलिए साधारणतः स्मृतियों पर अर्थात् संस्कृत काल के धार्मिक ग्रन्थों पर ही हिन्दू धर्म का घना आधार है।

वेद का शुद्ध उच्चारण करने के लिए उसमें बताई गई यज्ञ की क्रियाएँ योग्य रीति से करने के लिए व ऐसे ही अन्य उद्देश्य से जो पुस्तकें रची गईं उनको वेदांग कहा जाता है। 'वेदांग' अर्थात् वेद का अंग यानी साधन—वेद की सहायक होने वाली पुस्तकें।

वेदांग छः हैं—(१) शिक्षा (वेद का उच्चारण करना सिखाने वाले ग्रन्थ), (२) कल्प (यज्ञ याग की क्रियाओं की विधि बताने वाले ग्रन्थ), (३) व्याकरण (४) छन्द, (५) ज्योतिष और (६) निरुक्त (वेद के शब्दों की व्युत्पत्ति देकर उनका अर्थ करने की रीति बताने वाले ग्रन्थ)।

इस समय की बहुत-सी पुस्तकें सूत्र के आकार में रचित नजर आती हैं; सूत्र-सूत, डोरा। जिस तरह सूत पर फूल गूँथ

कर हार बनाया जा सकता है उसी तरह थोड़े-थोड़े शब्दों के बने अल्पाक्षरी वाक्यों पर ग्रन्थ गूँथा जा सकता है। इस तरह के छोटे वाक्य शिष्य सरलता से याद रख सकता है और इससे गुरुकृत सब उपदेश मन में जम जाता है। जिस समय सारी विद्या पूर्ण करने तक मुँह में ही रखने का रिवाज था, तब ये सूत्र रचे गए थे।

परन्तु इसमें धर्म का खास प्रतिपादन नहीं है। इसलिए इसके सम्बन्ध में यहाँ विशेष न कहते हुए सूत्र किस आकार के होते हैं, यह दिखाने के लिए तथा वेद का अर्थ किस तरह किया जाता है, यह बताने के लिए यहां एक पाणिनि का (व्याकरण का) सूत्र और निरुक्ति में से दो-तीन उद्धरण दिए जायंगे। कल्प सूत्र धर्म विशेष महत्व का है, इसलिए उसके विषय में आगे चलकर ब्यौरेवार कहा जायगा।

उद्धरण

"पति का न, यज्ञ सम्बन्ध में"—पति की अन्त्य 'इ' का लोप होकर वहाँ न् होवे और उसके बाद स्त्री-प्रत्यय 'ई' लगे। इसका अर्थ यज्ञ में पति के साथ भाग लेने वाली हो—इस प्रकार 'पत्नी' शब्द बनता है। [पाणिनि सूत्र]

इसका (वेद का) अर्थ स्पष्ट नहीं होता—ऐसी बहुतों की (वेद का अर्थ करने के विषय में) मान्यता है। उसका उत्तर यह है कि अन्धा मनुष्य खंभे को नहीं देखता तो उसमें दोष खंभे का नहीं, किन्तु मनुष्य का है। जिस प्रकार लौकिक बातों में विद्या के बल पर मनुष्य श्रेष्ठ बनता है, उसी तरह थोड़ी-बहुत वेद-विद्या जानने वालों में भी जो अधिक विद्याशाली होता है उसी का बखान होता है। कहा है कि जो वेद पढ़कर उसका अर्थ नहीं जानता वह भार वहन करने वाला सिर्फ स्तम्भ ही

हैं। जो अर्थ जानता है उसको सब अच्छा हो जाता है और ज्ञान से पाप झाड़कर वह स्वर्गलोग को प्राप्त करता है।

× × ×

एक ही आत्मा की बहुत प्रकार से स्तुति की जाती है। एक ही आत्मा के अन्य देव अंग (अवयव) हैं....नैरुक्तों के सूत्र के अनुसार तीन ही देवता हैं—अग्नि, जिसका स्थान पृथ्वी है; वायु अथवा इन्द्र, जिसका स्थान अन्तरिक्ष है; सूर्य, जिसका स्थान द्यौ है। उनके महान ऐश्वर्य के कारण एक-एक के अनेक नाम होते हैं। जिस तरह एक ही मनुष्य के (कर्मानुसार) होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता नाम पड़ते हैं।

× × ×

"वृत्र कौन है?—मेघ" ऐसा नैरुक्तों का कथन है। ऐतिहासिक कहते हैं कि त्वष्टा के पुत्र असुर ने अपना शरीर बढ़ाकर (आकाश के जल का) बहना रोक दिया। वह मरवा डाला गया इसलिए जल बहने लगा। [यास्क-निरुक्त]

सूत्र और स्मृति

हिन्दू धर्म का तत्कालीन स्वरूप समझने के लिए सब वेदांगों में कल्प यानी सूत्र मुख्य हैं; कल्प माने क्रिया या विधि और सूत्र का अर्थ है अल्पाक्षरी वाक्य। कल्प सूत्र के तीन वर्ग किये जाते हैं—श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र और धर्म सूत्र। श्रौत सूत्र में श्रुति में कही गई यज्ञ की क्रियाओं को किस तरह करना यह बताया गया है। गृह्य सूत्र में घर में करने की धार्मिक क्रियाओं तथा उपनयन, विवाहादि संस्कारों की विधि है। धर्म सूत्र में मुख्यतः ब्राह्मण, क्षत्रिय वगैरा वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वगैरा आश्रमों के धर्म का उसी तरह उत्तराधिकार,

लेन-देन वगैरा दुनिया-व्यवहार तथा कायदा-सम्बन्धी विषयों का वर्णन किया गया है।

श्रौत यज्ञ हिन्दू धर्म में अब नहीं के बराबर रह गए हैं, इसलिए श्रौत सूत्र के विषय में अधिक कहने की जरूरत नहीं है। परन्तु गृह्य सूत्र और धर्म सूत्र बहुत उपयोगी और जानने लायक हैं, क्योंकि इनमें वर्णित क्रियाओं और जीवन के नियमों पर हिन्दू धर्म और हिन्दू जन-समाज की इमारत खड़ी है।

गृह्य सूत्र में विशेषतः गृहस्थों द्वारा किये जाने वाले (१) पाक यज्ञ, (२) पंच महायज्ञ, (३) वर्ष में अलग-अलग समय करने के ऋतु यज्ञ, (४) श्राद्ध और (५) संस्कार— ये विषय आते हैं। पाक यज्ञ घर में अन्न राँधकर अग्नि द्वारा परमात्मा को आहुति देने की क्रिया है। ऋतुओं के यज्ञ में से कालक्रम में हिन्दुओं के उत्सव और त्यौहार निकले। श्राद्ध दिवंगत पितरों का स्मरण कर उनके प्रति भक्ति जागती रखने की क्रिया है। पंच महायज्ञ खास महत्व का विषय होने के कारण नीचे के एक उद्धरण में बतायँगे। संस्कारों के लिए एक अलग पाठ रखा गया है।

धर्म सूत्रों में से आगे चलकर विशाल स्मृतियाँ रची गईं। स्मृतियाँ बहुत हैं परन्तु उन सबमें मनु—याज्ञवल्क्य और पराशर की स्मृतियाँ मुख्य और विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें वर्णित चार वर्ण और चार आश्रमों का धर्म खासकर जानने योग्य होने के कारण इनके विषय में दूसरे पाठ में लिखा जायगा।

इन तीन प्रकार के सूत्रों के बाद दर्शन सूत्र भी गिनना चाहिए। परन्तु वे कल्पसूत्र के अन्दर नहीं आते इसलिए उनको अलग गिनाना पड़ता है। जिन सूत्रों में इस विश्व में भरी सत्य वस्तु (तत्व) का साक्षात्कार करने के लिए मार्ग बताया गया है उनको दर्शन सूत्र कहते हैं। इस प्रकार के सूत्रों में सांख्य-

सूत्र, योग सूत्र, वेदान्त सूत्र वगैरा आते हैं। यह वि
अधिक जानने-जैसा है, इसलिए इसका भी आगे चलव
अलग पाठ रखेंगे।

उद्धरण

"परन्तु मनुष्यों को ही, सामर्थ्य के अनुसार"—इसका अर्थ है कि मनुष्य को ही यज्ञ में कर्म का अधिकार है, क्योंकि इसको करने की सामर्थ्य इसमें ही है।

"अपंग, मूर्ख, शूद्र को छोड़कर"—मनुष्य को अधिकार है ऐसा कहा, परन्तु उसमें इतनों का अपवाद समझना—अन्धे, लूले वगैरा अपंग मनुष्य; जो द्विज होकर भी वेद नहीं जानते; तथा शूद्र।

"ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को, श्रुति से"—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही अधिकार है, शूद्र को नहीं—यह श्रुति से जाना जाता है।

"स्त्री को भी, भेद न होने से"—स्त्री को भी यज्ञ का अधिकार है, क्योंकि इसमें और इसके पति में भेद नहीं है।

[कात्यायन-श्रौत सूत्र]

(सात प्रकार का) पाक यज्ञ; (सात प्रकार का) हवि यज्ञ; (सात प्रकार का) सोम यज्ञ—इकीस प्रकार का यज्ञ कहा गया है।

यज्ञ-कर्म के अन्त में ब्राह्मणों को भोजन कराना; स्वर, आकृति, वय, विद्या, शील और आचार—इन गुणों वाले ब्राह्मणों को निमंत्रण देना। परन्तु विद्या सब गुणों से बढ़कर है। विद्यावान को नहीं भूलना। देव-विद्या, आत्म-विद्या और यज्ञ-विद्या—जो मंत्र और ब्राह्मण से प्राप्त होती हैं—विद्याएँ कहलाती हैं।

प्रातःकाल में जब सूर्य ऊँचे वृक्ष पर प्रकाशित होता है वह सर्व प्रकार के यज्ञों के लिए उत्तम काल है।

शाम को अग्नि को आहुति देता है, सवेरे सूर्य को, दोनों के बाद बिना बोले प्रजापति को।

[शाङ्खायन-गृह्यसूत्र]

पंच यज्ञ यह हैं—(१) देव यज्ञ, (२) भूत यज्ञ, (३) पितृ यज्ञ, (४) ब्रह्म यज्ञ और (५) मनुष्य यज्ञ। अग्नि में (दस आहुतियों को) होम करना देव-यज्ञ। (दिग्देवता को तथा कीट पक्षी वगैरा प्राणियों को तथा चाण्डाल वगैरा को धान्य की) बलि देना भूत यज्ञ। पितरों को बलि देना पितृ यज्ञ। स्वाध्याय (अपने पढ़ने की वेद वगैरा विद्या) करना ब्रह्म यज्ञ और मनुष्य को (अतिथि वगैरा को) देना मनुष्य यज्ञ—इन यज्ञों को प्रति दिन करना।

[आश्वलायन-गृह्यसूत्र]

संस्कार

ऊपर कहे गए गृह्यसूत्र का मुख्य विषय संस्कार है। संस्कार का अर्थ है शुभ करने की क्रिया। मनुष्य को जंगली दशा में से निकालने के लिए, उसको अच्छा बनाने के लिए, जो-जो यत्न किये जाते हैं उनको संस्कार कहते हैं। परन्तु इस शब्द का विशेष अर्थ मनुष्य को पवित्र बनाने वाली धार्मिक क्रिया होता है।

हिन्दू धर्म शास्त्र में जब बालक माता के गर्भ में होता है तभी से उस पर विविध संस्कार करने की आज्ञा है। इन संस्कारों की संख्या बारह, सोलह, चालीस इत्यादि भिन्न-भिन्न दी जाती हैं।

और किसी-किसी संस्कार में भेद भी देखा जाता है। मुख्य संस्कार नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) गर्भाधान
(२) पुंसवन } गर्भावस्था के समय के
(३) सीमन्तोन्नयन

(४) जात कर्म—जन्म समय का

(५) नामकरण—नाम रखना, दसवें दिन, जब माता न उठी हो तब, पिता-माता द्वारा पुत्र का नाम रखा जाना।

(६) निष्क्रमण—बाहर निकालना, चौथे महीने में बालक को बाहर निकालकर सूर्य दर्शन कराना।

(७) अन्नप्राशन—अन्न भोजन। छठे महीने बालक को मधु, घी और भात मिलाकर खिलाना।

(८) चौड—तीसरे वर्ष (चोटी रखकर) बाल कटाना।

(९) गोदान—चोटी, दाढ़ीसहित सब बाल कटाना।

(१०) उपनयन—यज्ञोपवीत देना और बालक को गुरु के यहाँ विद्या पढ़ने के लिए भेजना।

(११) समावर्तन—विद्या पढ़कर घर आना।

(१२) विवाह—पाणिग्रहण करना।

ऊपर संस्कार गिनाये, उनमें से 'गोदान' को कई बार केशान्त कहा जाता है। कुछ इसकी जगह पर कर्णवेध (कान छेदना) का संस्कार रखते हैं। उपनयन का दूसरा नाम व्रतादेश है। व्रतादेश यानी ब्रह्मचर्य व्रत को पालन करने की आज्ञा करना। तदनंतर कुछ लोग उपनयन के बाद 'वेदारम्भ', समावर्तन के बाद 'स्नान' (पढ़ आने के बाद का कृत्य) विवाह के बाद 'अग्नि परिग्रह' (गृहस्थाश्रम का चिह्न स्वरूप घर में अग्नि-स्थापन करना) और अन्त में 'अन्त्येष्टि' नाम का मरण-

समय का संस्कार—इस प्रकार चार दूसरे संस्कार जोड़कर सोलह संस्कार बताते हैं।

ऊपर के संस्कारों में (१) उपनयन और इसके अंगभूत ब्रह्मचर्य और विद्याभ्यास, और (२) विवाह और इसके साथ जुड़ा हुआ 'अग्नि परिग्रह'—ये दो सबसे विशेष महत्व के हैं। 'उपनयन' के द्वारा मनुष्य के चरित्र और ज्ञान का पाया रखा जाता है, इसलिए इसको द्विजत्व का संस्कार कहते हैं। द्विज माने दूसरी बार जन्मा—पहली बार माता के पेट से जन्मा और दूसरी बार इस संस्कार से सच्चा मनुष्य जन्म धारण करता है। बाद में अग्निरूप से परमात्मा नित्य वास करता है—ऐसा समझकर पति-पत्नी मिलकर गृहस्थाश्रम चलावें और उसका धर्म पालें।

यह संस्कार योजना देखने से मालूम होगा कि हिन्दू धर्म-शास्त्रकारों ने मनुष्य के सारे जीवन को गर्भ से लेकर मरण तक धार्मिक बुद्धि से भर दिया है। इससे मनुष्य को अपने जीवन का उत्तरदायित्व समझ में आता है और मनुष्य-जीवन पवित्र वस्तु है—ऐसा ज्ञान होता है और ऐसा ही वे चाहते हैं।

उद्धरण

८—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौड और उपनयन।

४—वेदव्रत।

२—स्नान (समावर्तन) और सहधर्मचारिणीसंयोग (विवाह)

५ यज्ञ—(देव, पितृ, मनुष्य, भूत और ब्रह्म यज्ञ)

७ पाकयज्ञ।

७ हविर्यज्ञ।

७ सोमयज्ञ।

इस तरह कुल मिलाकर ४० संस्कार हुए।

आठ आत्मगुण—सर्व भूतमात्र के प्रति दया, क्षमा, अनसूया (किसी से द्वेष अथवा उसकी निन्द नहीं करना), शौच (पवित्रता), अनायास (अत्मा को क्लेशित नहीं करना), मंगल (शुभवृत्ति) अकार्पण्य (दीनता नहीं दिखाना) और अस्पृहा (लोभ न करना) जिसके ये ४० संस्कार नहीं हुए तथा जो आठ आत्म-गुणों को धारण नहीं करता वह ब्रह्म का सायुज्य अथवा सालोक्य नहीं प्राप्त करता। परन्तु जिसमें इन संस्कारों में से एक भी संस्कार है और आठ आत्म-गुण हैं वह ब्रह्म का सायुज्य और सालोक्य प्राप्त करता है।

[गौतम—धर्मसूत्र]

उपनयन—गर्भ से आठवें वर्ष ब्राह्मण का उपनयन करना मृगचर्म उढ़ाकर ; अथवा गर्भ के बाद दसवें वर्ष। गर्भ से ११ वें वर्ष क्षत्रिय का काले मृग का चर्म उढ़ाकर। गर्भ से १२ वें वर्ष वैश्य का गाय का चर्म उढ़ाकर। सोलहवें वर्ष तक ब्राह्मण के लिए (उपनयन का) कालातिक्रम नहीं होता; बाईस तक क्षत्रिय के लिए; चौबीस तक वैश्य के लिए। इस काल के बाद वह 'पतित सावित्रीक' (जिसका गायत्री का अधिकार छिन गया) हो जाता है।

(गुरू, शिष्य का हाथ पकड़कर) भग ने तेरा हाथ पकड़ा है, सविता ने तेरा हाथ पकड़ा है, पूषा ने तेरा हाथ पकड़ा है, अर्यमा ने तेरा हाथ पकड़ा है। तू धर्म के कारण मित्र (देव) है, अग्नि तेरा आचार्य है और मैं (तेरा आचार्य हूँ) हम दोनों (तेरे आचार्य हैं)। हे अग्नि, इस ब्रह्मचारी को मैं तुझे सौंपता हूँ। हे इन्द्र !.........

हे सूर्य !....... हे विश्वे देवा ! इस ब्रह्मचारी को मैं तुम्हें सौंपता हूँ—आयुष्य, प्रजा, बल, समृद्धि, विद्या, कीर्ति और कल्याण के लिए।

(शा० गृ० स०)

गुरु, ब्रह्मचारी के हृदय पर हाथ रखकर— मेरे व्रत में (नियम में) मैं तेरा हृदय रखता हूँ, मेरे चित्त का तेरा चित्त अनुसरण करे। एक व्रत (एकनिष्ठ) होकर तू मेरी वाणी का सेवन कर। बृहस्पति तुझको मेरे साथ जोड़े।

(आश्व० गृ० सू०)

मेखला बाँधकर, दण्ड देकर, ब्रह्मचर्य का उपदेश करना— "तू ब्रह्मचारी है। आचमन कर (देह शुद्धि के लिए); कर्म (सन्ध्योपासनादि) कर; दिन में सोना मत; आचार्य के अधीन रहकर वेद पढ़।" (आश्व गृ० सू०)

रामायण और महाभारत

स्मृतियों में चार वर्ण, चार आश्रम वगैरा जो अनेक रुचिर और उपयोगी विषय आते हैं उनके विषय में बोलने के पहले इस समय के दो महान् ग्रन्थों के विषय में थोड़ा कहने की जरूरत है। ये ग्रन्थ रामायण और महाभारत हैं।

इस समय ये पुस्तकें जिस रूप में और आकार में दिखाई पड़ती हैं वैसी वे मूल में न थीं। परन्तु इनकी रचना का आरम्भ सूत्रकाल की शुरुवात से ही हो चुका था और इसके अन्तिम भाग तक वे लिख ली गई थीं।

हम सूत्रों और स्मृतिओं में हिन्दू धर्म का जो आचार-विचार देखते हैं उसको यदि बहुत विस्तार से जानना हो और वास्तव में उनका कैसा पालन-प्रचलन होता था यह देखना हो, तो ये दो ग्रन्थ पढ़ने चाहिए।

सबको मालूम है कि रामायण में सूर्यवंशी राम की कथा है और महाभारत में चन्द्रवंशी भरतकुल में उत्पन्न कौरव-पाण्डवों

का इतिहास है। इनका मुख्य धार्मिक उपदेश क्या है—यहाँ यही बतलाया जायगा।

रामायण में—गृहधर्म और राजधर्म का उत्तम उपदेश है। घर में सब कुटुम्बियों को परस्पर कैसे स्नेह से बर्ताव करना चाहिए, इसके अलग-अलग उदाहरण देकर बताया गया है। पिता के वचन के लिए पुत्र राम ने वनवास स्वीकार किया, पत्नी को पति के सुख में सुखी और दुःख में दुखी होना चाहिए—इस कारण सीताजी राम के साथ वन में गईं। भाई लक्ष्मण ने राम की वन में रावण के साथ लड़ाई में सेवा की। दूसरे भाई भरत ने बड़े भाई का हक़ समझकर पास आई लक्ष्मी को ठोकर मारी; छोटे भाई की हैसियत से अपने कर्तव्य को पूरा किया। एक दुष्ट प्रजाजन को ऐसी शंका हुई कि राम अधर्म को उत्तेजना देता है। इस शंका के लिए भी अवकाश नहीं रहना चाहिए, इसलिए राम ने उग्र राजधर्म का पालन किया और सीता का त्याग किया। तो भी पति के रूप में उनका सीता पर अविचल प्रेम था जो कि इसी से जाना जाता है कि उन्होंने अश्वमेध यज्ञ के समय फिर से शादी नहीं की और सीताजी की सोने की मूर्ति पास रखकर अकेले ही काम चला लिया। राम की पितृ-भक्ति और राजधर्म, उसकी कर्तव्य-निष्ठा और एक पत्नीव्रत हिन्दू धर्म के इतिहास में कभी नहीं भुलाए जायँगे।

महाभारत अलग ही ढङ्ग का ग्रन्थ है। इसमें रामायण की अपेक्षा कुटुम्ब-जाल विशेष है और कुटुम्बी स्वार्थ के लिए कैसा अन्याय करते हैं, कलह करते हैं इत्यादि घर-संसार का काला पक्ष पूरी तरह से बताया गया है। उसी के साथ इसका उज्ज्वल पक्ष बताना भी बाकी नहीं रखा।

अलग-अलग स्वभाव के भाई भी सुलह से कैसे एकत्र रह सकते हैं और पास के अन्य सगे-सम्बन्धियों के साथ कैसे स्नेह-

भरा सम्बन्ध रख सकते हैं वह पाण्डवों के आपस के और कृष्ण के साथ के सम्बन्ध में बताया गया है; परन्तु उसके बाद इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी खूबी यह है कि प्रत्येक मनुष्य में गुण और दोष किस प्रकार मिले होते हैं और उससे मनुष्य स्वभाव के कैसे अलग-अलग नमूने बनते हैं, यह बात इसमें बहुत रसिक और अद्भुत तरीके से बताई गई है और सारी कथा में से यह सार निकाला है कि—"यतो धर्मस्ततो जयः", जहाँ धर्म वहीं जय। परन्तु इस मुख्य कथा के अतिरिक्त महाभारत में दूसरी असंख्य कथाएँ प्रसंग-प्रसंग पर आती हैं। युधिष्ठिर वगैरा पाण्डव देशनिकाला भुगतकर वन में फिरते हैं। वहाँ इनकी अनेक ऋषियों और ज्ञानियों के साथ भेंट होती है और उनके मुख से वे अनेक राजाओं और स्त्री-पुरुषों के सुख-दुख की कहानी सुनते हैं और विविध विषयों पर उपदेश ग्रहण करते हैं। इसके सिवा महाभारत में अन्य कई प्रसंगों पर धर्म और तत्वज्ञान का उपदेश आता रहता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया है वह महाभारत का प्रकरण है। इसके अलावा भीष्मपितामह घायल होकर बाणशय्या पर पड़े-पड़े सब श्रोताजनों को राजधर्म, स्त्रीधर्म और मोक्षधर्म वगैरा विषयों पर बहुत अमूल्य उपदेश देते हैं। महाभारत में धर्म-सम्बन्धी इतना अधिक ज्ञान भरा हुआ है कि यदि हिन्दू धर्म की अन्य कोई पुस्तक न पढ़ी जा सके और महाभारत ही पढ़ लिया जाय तो काफी है। इसके विषय में उचित ही कहा गया है कि—"जो इसमें है वही दूसरे में है, जो इसमें नहीं वह किसी दूसरी जगह नहीं है।"

उद्धरण

वीर और पुरुषत्व का अभिमान रखनेवाले मनुष्य सचमुच ऐसे होते हैं कि उनका चरित्र ही कह देता है कि वे कुलीन

हैं या अकुलीन, पवित्र हैं या अपवित्र। (मैं प्रतिज्ञा तोड़ दूँ तो) यह समस्त लोक स्वच्छन्द वृत्ति से चलने लगे। राजा के आचरण के सदृश ही प्रजा का आचरण होता है। राजा का चरित्र सदैव सत्य और दयापूर्ण होना चाहिए। राज्य की आत्मा ही सत्य है; सत्य पर सर्व जगत् टिका है। ऋषियों और देवों ने सत्य को ही (श्रेष्ठ) माना है। जो सत्यवादी होता है वही इस लोक में अक्षय और परम स्थान पाता है। साँप को देखकर जैसे आदमी भागता है वैसे ही झूठे आदमी के पास से आदमी त्रस्त होकर भाग जाता है। धर्म में सत्य ही मुख्य है। सत्य सबका मूल कहलाता है। सत्य ही इस लोक में ईश्वर है। धर्म सदैव सत्य का ही आश्रय लेकर रहता है। सर्व वस्तु सत्य से निकलती हैं; सत्य से कोई स्थान ऊँचा नहीं। दान, यज्ञ, होम, तप, वेद--सब सत्य में मौजूद हैं इसलिए सत्यपरायण बनो।

[वाल्मीकि-रामायण]

आदित्य (सूर्य), चन्द्र, वायु, अग्नि, द्यौ, पृथ्वी, जल, हृदय, यमराज, दिन, रात, दो सन्ध्याएँ (सवेरा और शाम) और धर्म --मनुष्य का आचरण जानते हैं।

हे भारत! सर्वलोक में सत्य १३ प्रकार का है; (१) सच बोलना (२) समता रखना (३) मन को वश में रखना (४) मात्सर्य[1] नहीं करना (५) क्षमा रखना (६) बुरा करते शरमाना (७) सुख-दुख सहन करना (८) किसीका दोष नहीं देखना (९) (धन, सुख वगैरा का अन्य के लिए) त्याग करना (१०) शुभ चिन्तन (ध्यान) करना (११) आर्द्रता रखना (१२) धृति (धैर्य, दृढ़ता) धरना (१३) नित्य दया रखना और (१४) हिंसा नहीं करना।

---

१. सामान्य अर्थ ईर्ष्या होता है। महाभारत में 'दान और धर्म में संयम' ऐसा किया गया है।

ये तेरह[1] हे राजन् , सत्य के आकार हैं।

कुछ भी ढोंग या स्वार्थ की इच्छा किये बिना प्राणीमात्र का जैसे बने तैसे (प्रयत्नाकर) शुभ करने का नाम आर्यत्व है।

जो कर्म अन्य की ओर से अपने लिए पसन्द न हो वह कर्म दूसरे के अनुकूल भी नहीं बैठता, ऐसा समझकर दूसरे के प्रति भी उसको न करना।

हे जाजलि ! जो [नित्य सबका सुहृद् (मित्र) है और जो मन, वचन और कर्म --तीनों से सबके हित में आनन्द से मग्न है—वही धर्म को पहचानता है।

× × ×

जो कुछ न्याय के अनुसार आचार है वह सर्व शास्त्र है—ऐसा श्रुति कहती है।

जो न्याय के अनुसार नहीं, वह शास्त्र भी नहीं—ऐसा श्रुति सुनाती है। [महाभारत]

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत के महाभंडार में छिपा एक अमूल्य रत्न है। जगत् के धार्मिक साहित्य में कोई भी ग्रन्थ इसकी बराबरी नहीं कर सकता—यदि हिन्दू ऐसा अभिमान रखते हैं तो उसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

इसका प्रसंग निम्न प्रकार है—पांडवों की ओर से श्रीकृष्ण दुर्योधन के पास संधि करने गये और कहा कि पाण्डवों को थोड़े गाँव दे दो तो काफी होगा। तो भी दुर्योधन ने नहीं माना और एक बालिश्त जमीन भी देने से इनकार कर दिया। आखिर युद्ध छिड़े बिना नहीं रहा। युद्ध में पाण्डवों और कौरवों की

---

१. कुल चौदह होते हैं—सत्य (सच बोलना) को मिलाकर।

सेनाएँ आमने-सामने डटी हैं, उस समय अर्जुन के स्नेहालु और उच्च हृदय में अपने सगे-सम्बन्धियों और बड़ों के विरुद्ध शस्त्र चलाते घबड़ाहट होती है ; उसका हाथ काँपता है, हाथ में से गाण्डीव धनुष गिर जाता है, सारा शरीर पसीना से भर जाता है और उसको यह नहीं सूझता कि क्या करे । अर्जुन असमंजस में पड़कर अपने सारथी श्रीकृष्ण भगवान का शिष्य बनकर पूछता है कि मैं क्या करूँ ? उस समय कृष्ण उसको उपदेश देते हैं। अर्जुन और कृष्ण का यह संवाद श्रीमद्भगवद्-गीता के नाम से प्रसिद्ध है ।

इस ग्रन्थ में गंभीर तत्वज्ञान भरा है, परन्तु उसके साथ ऐसा भी कितना उपदेश है जो आसानी से ग्रहण किया जा सकता है ।

इसके चार मूल उपदेश यह हैं—

(१) मनुष्य को अपनी स्थिति के अनुसार प्रभु द्वारा उसके जो-जो कर्तव्य ठहराये गए हैं, उनको हमेशा करते रहना चाहिए ।

(२) कर्तव्य करते हुए फल की इच्छा नहीं रखनी चाहिए ।

(३) फल प्रभु को समर्पण कर देना चाहिए अर्थात् जो कर्म करना वह प्रभु की प्रीति के लिए ही करना चाहिए । और

(४) नित्य निरन्तर प्रभु की ही शरण में रहना चाहिए ।

उद्धरण

हे मधुसूदन ! यदि ये लोग मुझे मारें तो भी मैं इनको मारने की इच्छा नहीं करता—त्रैलोक्य के राज्य के लिए भी नहीं तो पृथ्वी के लिए तो करूँगा ही क्यों ?

जिस तरह मनुष्य जीर्ण (पुराना) वस्त्र फेंककर नया पहनता है उसी तरह यह देही (जीवात्मा) जीर्ण शरीर छोड़कर

नया ग्रहण करता है। इसको शस्त्र नहीं काटते, अग्नि नहीं जलाती, जल नहीं भिगोता, और हवा नहीं सुखाती।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार —इस तरह मेरी प्रकृति आठ प्रकार से विभक्त है। यह मेरी अपराप्रकृति है। मेरी पराप्रकृति जीवरूप समझो, जिसके सहारे हे महाबाहु! इस जगत् का धारण होता है।

जो-जो विभूति वाला, श्री(लक्ष्मी) वाला और ऊर्जस्वी (प्रबल) सत्त्व है उसको मेरे तेज के अंश में से ही उत्पन्न समझो। अथवा हे अर्जुन! यह सब जानने से क्या? इस सारे जगत् को मैं अपने एक ही अंश से व्याप्त कर रहा हूँ। (इतने में सब समझ लो।)

हे भारत! जब-जब धर्म की ग्लानि (क्षय) होती है और अधर्म की उन्नति होती है तब मैं स्वयं अपने को प्रकट करता हूँ। सत्पुरुषों के रक्षण के लिए और दुष्टों के विनाश के लिए तथा धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में जन्म लेता हूँ।

कर्म पर ही तेरा अधिकार है, फल पर कभी नहीं, आत्मा का नाश करने वाला इस नरक का द्वार तीन प्रकार का है—काम, क्रोध और लोभ। इसलिए इन तीनों को छोड़ो।

इस लोक में दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टि है—दैवी और आसुरी। दैवी सम्पत मोक्ष देती है और आसुरी बन्धन की सृष्टि करती है। हे भारत! तू शोक न कर। दैवी संपत् के लिए तू जन्मा है।

कुछ द्रव्य यज्ञी (द्रव्य द्वारा परमात्मा का यजन करने वाले) हैं; कुछ तपोयज्ञी हैं कुछ योग यज्ञी हैं और कुछ पवित्र जीवन बिताने वाले यति शास्त्राभ्यास रूपी और ज्ञान रूपी यज्ञ करते हैं।

द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ अधिक उत्तम है। विद्या-विनय-

सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल पर पंडित समान दृष्टि रखते हैं।

हे अर्जुन! मैं न वेद द्वारा, न तपश्चर्या से, न दान से और यजन से वैसा देखा जा सकता हूँ जैसा तूने मुझे देखा है। हे परंतप! अनन्य भक्ति से ही मैं इस प्रकार जाना जा सकता हूँ, अन्तर में प्रविष्ट किया जा सकता हूँ।' जो मेरा ही कर्म करता है, मुझे ही परम वस्तु मानता है, संगरहित और सब प्राणीमात्र में वैररहित होकर मुझे ही भजता है—वही, हे पांडव, मुझे पाता है।

पत्र, पुष्प, फल, तोय (जल) जो कोई मुझे भक्ति से देता है, साधु पुरुष से भक्तिपूर्वक दिये गए उस अर्घ्य को मैं ग्रहण करता हूँ।

हे अर्जुन! ईश्वर सब भूतों के हृदय-प्रदेश में रहता है; अपनी माया द्वारा सब भूतों को यंत्रस्थित पदार्थों की तरह चलाता है। हे भारत! सर्वभाव से तू उसी की शरण में जा। उसके प्रसाद से तू परम शान्ति और नित्यपद प्राप्त करेगा।

मुझमें मन लगा, मुझको भज, मेरा यजन कर, मुझे नमस्कार कर, मत्परायण (मैं ही जिसका परम गन्तव्य स्थान हूँ) हो इस तरह तू मेरे में अपनी आत्मा जोड़ेगा तो तू मुझे पायगा।

चार वर्ण

प्रत्येक जन-समाज जैसे-जैसे जंगली दशा से सुधरी दशा में आता जाता है और आगे कदम बढ़ाता जाता है वैसे-वैसे उसके धन्धों के प्रकारों में वढ़ती होती जाती है। परन्तु साधारणतः इन सब धन्धों के चार वर्ण कर हिन्दू धर्म के शास्त्रकारों

ने समाज के चार वर्ण निश्चित किये हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

वर्ण का अर्थ रंग है—धन्धा व रंग। धन्धा व रंग के अनुसार चार वर्ण इस तरह बने—विद्या पढ़ना और पढ़ाना, धर्म पालना और उपदेश करना—यह ब्राह्मण का धन्धा बना। परन्तु दुनिया हमेशा सीधे—सत्य और धर्म के—मार्ग से ही नहीं चलती। जन-समाज में अनेक दुष्ट जन चोरी, लूट वगैरा अधर्म का मार्ग सेवन करते हैं और एक राज्य दूसरे राज्य पर हमला करके एक-दूसरे का द्रव्य भूमि वगैरा हड़प लेने का यत्न करता है। जन-समाज के इन अन्दर और बाहर के दुश्मनों को नुकसान करने से रोकने के लिए तथा प्रजा को सुख और कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ करने के लिए, राज्य की जरूरत है। यह युद्ध और प्रजा-रक्षण का धन्धा क्षत्रियों का है। परन्तु यह कार्य बिना द्रव्य के नहीं हो सकता। प्रजा के रक्षण के लिए और दुश्मनों के साथ लड़ने के लिए वैसे ही सारे जन-समाज के सामान्य सुख के लिए पग-पग पर द्रव्य की जरूरत पड़ती है। उसको उत्पन्न करने का काम वैश्यों का है। वैश्य खेती वगैरा धन्धा करके तथा परदेश से व्यापार कर द्रव्य पैदा करते हैं। इसके कारण वे खुद सुख भोगते हैं; राजा को कर देकर राज्य चलाने में मदद करते हैं; तथा कल्याणकारक दान करके जन-समाज के सुख में वृद्धि करते हैं।

परन्तु खेती, व्यापार वगैरा धन्धों में कोई बुद्धि का प्रयोग करते हैं तो किन्हीं को शारीरिक श्रम (मजदूरी) भी करना चाहिए। इस शारीरिक श्रम को करने वाला वर्ग शूद्र है। ऋग्वेद संहिता में ये चार वर्ण आ चुके हैं। जन समाज का यह खुद ही विभाजन कर देते हैं।

इसलिए इस ग्रन्थ के पुरुष सूक्त में बताया है कि ये चार

वर्ण जो जन-समाज में प्रचलित हैं एक महापुरुष के (जन-समाज के) ही अवयव हैं; सब मिलकर एक शरीर बनाते हैं। ब्राह्मण उसका मुख है, क्षत्रिय बाहु, वैश्य उरु और शूद्र पैर है। यह उनके कार्य के अनुसार समझना। किसी को उच्च-नीच समझ कर अभिमान या तिरस्कार नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार सारा शरीर पैर पर खड़ा रहता है, मुख बाहु, और उरु भी पैर के आधार पर ही रहते हैं उसी प्रकार सारा जन-समाज शूद्र पर टिका हुआ है—ऐसा कहने में कोई हानि नहीं।

प्राचीन काल में गुण को बहुत महत्व दिया जाता था। विश्वामित्र क्षत्रिय होने हुए भी तप के बल से ब्राह्मण हो गया। कवष ऐलूष की धार्मिकता देखकर ब्राह्मणों ने भी उसको मान दिया और ऐसे दूसरे अनेक उदाहरण ब्राह्मण, उपनिषद्, महाभारत वगैरा ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं। जब तक जन्म के अनुसार वर्ण-व्यवस्था होने पर भी गुण पर ध्यान दिया जाता था तब तक सब ठीक चलता रहा। परन्तु दिन-प्रतिदिन प्रजा में से विद्या लुप्त होती गई। उसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण दरिद्र और भिखारी होने लगे। क्षत्रिय लुटेरे हो गए और एक-दूसरे का राज्य हड़प लेने में अपने बल का उपयोग करने लगे; वैश्य लोभी, डरपोक और निर्बल हो गए। और शूद्र बिलकुल पशु जैसे ही बन गए।

फिर तो चार वर्णों की चौरासी बल्कि असंख्य जातियाँ हो गईं। उसका पहला कारण तो यह है कि वैश्यों के विविध धन्धों के अलग-अलग महाजन नियत हो गए। दूसरा कारण—राजकीय अन्धाधुन्ध के कारण देश के एक भाग में से दूसरे भाग में जो लोग गये उन्होंने अपने-अपने मूल वतन के अनुसार अलग-अलग टोलियाँ बना लीं, और उसमें फिर अच्छे-बुरे रिवाज

के भेद से परस्पर के झगड़े वगैरा के अनेक कारणों से कशम-कश चली।

परन्तु मूल हिन्दु धर्मशास्त्र के अनुसार तो जन-समाज के मात्र चार वर्ण ही हैं। वे भी उसके गुण और कर्म के अनुसार पड़े हैं और सब, जैसा कि ऊपर कहा गया है, एक महापुरुष (जन-समाज) के ही अंग हैं।

उद्धरण

इस सब सृष्टि के रक्षण के लिए महाप्रकाशवान ब्रह्मा (परमात्मा) ने मुख, बाहु, उरु और पाद—इन चार में से उत्पन्न चार वर्णों के अलग-अलग कर्म ठहराए।

(१) विद्या पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ करना और कराना, दान लेना और देना— ये छः कर्म ब्राह्मण के हैं।

(२) प्रजा का रक्षण करना, दान करना, यज्ञ करना, विद्या पढ़ना और विषय में आसक्त न होना—ये संक्षेप में क्षत्रिय के काम हैं।

(३) पशुओं का रक्षण करना (जानवर पालना और पोसना) दान करना, यज्ञ करना, विद्या पढ़ना, वाणिज्य का मार्ग (जल-स्थल का) सेवन करना, व्याज पर रुपये-पैसे देना, और खेती करना—ये वैश्य के काम हैं।

(४) परमात्मा ने शूद्र के लिए एक ही कर्म ठहराया है—वह है इन वर्णों की बिना द्वेष किये सेवा करना। [मनुस्मृति]

शूद्र को द्विज की सेवा करना। इस सेवा से यदि जीवन-निर्वाह न हो तो वह वणिक् हो जाय अथवा वह विविध प्रकार के कला-कौशल द्वारा द्विजों (ऊपर के तीन वर्णों) का हित करते रहकर जीवन-निर्वाह करे। [याज्ञवल्क्य]

(तीन) वर्णों को शूद्र का अवश्य भरण-पोषण करना चाहिए —ऐसा कहा है। [महाभारत]

विद्या, कर्म, वय, बन्धु, और वित्त वाले जनों को यथा क्रम (एक-एक के बाद) मान देना और यदि ये गुण शूद्र में प्रचुर मात्रा में हों तो वृद्धावस्था में वह भी मान के लायक है।

[याज्ञवल्क्य]

जिस तरह लकड़ी का हाथी और जैसे चमड़े का मृग (खिलौना) वैसा ही विद्याहीन ब्राह्मण—ये तीनों मात्र नाम के ही समझना। [मनु]

सत्य, दान, क्षमा, शील, आनृशंस्य (मनुष्यमात्र पर प्रेम) तप और दया—ये जिसमें दिखाई पड़ते हैं उसको ब्राह्मण कहा जाता है। शूद्र शूद्र नहीं है और ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है। जिसमें यह (ब्राह्मण का) वृत (शील, वर्तन) हो वह ब्राह्मण है और जिसमें यह न हो उसको शूद्र कहना। [महाभारत]

क्रोध न करना, सत्य बोलना, दूसरे को भाग देना (साथ बाँटकर खाना, दान) क्षमा रखना, अपनी स्त्री में प्रेम रख संसार चलाना, पवित्र रहना, किसी का द्रोह न करना, सरल और सीधा रहना और आश्रित जनों का भरण-पोषण करना—ये नौ धर्म सब वर्णों के हैं। [महाभारत]

धैर्य, क्षमा, दम (शारीरिक कष्ट सहना, और मन को वश में करना) अस्तेय (चोरी न करना, किसी का धन अनधिकार नहीं लेना) शौच (पवित्रता, शुद्धि) इन्द्रिय-निग्रह (इन्द्रियों को वश में रखना) ज्ञान, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस बातें धर्म के लक्षण हैं। (मनुस्मृति)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दम, दया, और क्षमा—ये सब धर्म के साधन हैं।

चार आश्रम

जन-समाज के हित के लिए जरूरी सब काम ठीक तरह से हों इसके लिए ब्राह्मण शास्त्रकारों ने जिस प्रकार चार वर्णों की व्यवस्था की है उसी तरह मनुष्य अपने जीवन में अपना हित पूरी तरह से साध सके इसके लिए उन्होंने चार आश्रम नियत किये—(१) ब्रह्मचर्य आश्रम (२) गृहस्थ आश्रम (३) वानप्रस्थ आश्रम और (४) संन्यास आश्रम; आश्रम अर्थात् रहने का स्थान।

ऋषि जिस प्रकार वन में आश्रम बनाकर रहते थे और उसमें पवित्र जीवन बिताते थे उसी तरह साधारण मनुष्य भी संसार में रहकर पवित्र जीवन बिताना चाहे तो बिता सकता है—यह बताने के लिए जीवन के इन चार भागों को आश्रम कहा जाता है।

अत्यन्त सादगी और पवित्रता से गुरु के घर रहकर विद्या पढ़ना—यह ब्रह्मचर्य आश्रम का धर्म है। ब्रह्म का, जो वेद की पवित्र विद्या का नाम है, ज्ञान प्राप्त करने और नियम पालने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह ब्रह्मचर्य पच्चीस वर्ष की उम्र तक अवश्य पालना—ऐसी शास्त्र की आज्ञा है। जिसको समस्त जीवन विद्या की सेवा में ही बिताना हो उसको वैसा करने की छूट है, परन्तु साधारणतया इस उम्र तक तो प्रत्येक द्विज को विद्या पढ़नी ही चाहिए—ऐसा शास्त्र का कथन है। इस आश्रम में पढ़ने के अलावा, सादगी और देह-कष्ट के कितने ही नियम पालने पड़ते हैं, जिससे आगे चलकर मनुष्य जब दुनिया के धन्धों में फँसे तब ऐश आराम में न पड़कर और निकम्मा न होकर मेहनती और दृढ़ बने।

विद्या पढ़कर घर आना और उसके बाद विवाह करना—घर बसाना। इस दूसरे आश्रम को गृहस्थ आश्रम कहते हैं। इस

आश्रम के नियमों में बताया गया है कि घर बसाकर रहनेवाला किस तरह रहे। गृहस्थाश्रम पशुओं की तरह एक-दूसरे को फाड़ खाने में या मन चाहे जिस तरह पेट भरने के लिए नहीं है, परन्तु संसार के बीच रहकर संसार के सुख भोगने, कर्तव्य करने और सदा परमात्मा पर लक्ष्य रखने के लिए है। पत्नी और बाल-बच्चे इस आश्रम के खास सुख हैं और ये सुख परमात्मा की नजर के सामने रहकर ही हमको भोगने हैं—यह जताने के लिए पहले प्रत्येक घर में 'अग्निहोत्र' रखने का रिवाज था।

संसार बहुत भोग लिया। लड़कों के लड़के हो गए, अब संसार में निकलकर वन में जाना चाहिए और परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए—ऐसा निश्चय कर गृहस्थ वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। परमात्मा के स्वरूप-सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन करने में तल्लीन रहना, गर्मी-सर्दी वगैरा बर्दाश्त करना, वृत्तियों को संसार के विषयों में से खींचकर परमात्मा में एकाग्र करना, अपने आश्रम में से आश्रम के लायक जो-जो पदार्थ हों उनको अतिथि को देना, और सब प्राणीमात्र में अनुकम्पा रखना। तात्पर्य यह है कि उनके सुख में सुखी और उनके दुःख में दुखी होना—यह वानप्रस्थ आश्रम का मुख्य धर्म है।

वानप्रस्थ आश्रम में भी दुनिया के साथ बहुत-सा सम्बन्ध रहता है जैसे आश्रम बनाकर रहना, अगर पत्नी साथ आवे तो उसको भी परमात्मा का चिन्तन करने में साथ रखना, और अतिथि आवे तो उसका सत्कार करना तथा कितने ही व्रत (होम वगैरा) कर्म करना इत्यादि। परन्तु वानप्रस्थाश्रम के बाद संन्यास आश्रम आता है, उसमें सब कर्म का और सब सम्बन्ध का त्याग किया जाता है। भिक्षा मांगकर—जो मिले सो एक वक्त खाकर—ब्रह्म का चिंतन करते रहना और एक गांव, शहर या वन में

नहीं पड़े रहना, फिरते रहना और अपने पवित्र ज्ञान से जग का कल्याण करना।

उद्धरण

द्विज को जिन्दगी का पहला चौथा हिस्सा गुरु के यहां (विद्या पढ़ने के लिए) रहना और दूसरा चौथाई भाग ब्याह कर घर में रहना। [मनुस्मृति]

ब्रह्मचर्य पूरा करके गृही (गृहस्थाश्रमी) बनना, गृह में से वनी (वानप्रस्थ) होकर प्रव्रज्या (संन्यास) लेना। अथवा दूसरी तरह—ब्रह्मचर्य में से ही या गृह या वन में से ही प्रव्रज्या लेना। जिस दिन (सच्चा) वैराग्य उत्पन्न हो जाय उसी दिन प्रव्रज्या लेना।

[जाबालोपनिषद्]

बहुतों का कहना है कि इसको (विद्या पढ़कर आने वाले ब्रह्मचारी को) आश्रम का विकल्प है (ब्रह्मचारी रहना, या गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना या संन्यास लेना)

[गौतम—धर्मसूत्र]

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु (संन्यासी) और वैखानस (वानप्रस्थ) ये चार आश्रम हैं; इनमें गृहस्थ बीज है, क्योंकि दूसरे अप्रज हैं।[1]

[गौतम—धर्मसूत्र]

जिस प्रकार वायु के आधार पर सब जन्तु जीते हैं उसी प्रकार गृहस्थ के आश्रय में सब आश्रम रहते हैं। जिस प्रकार सब नदियाँ और नद (छोटी-बड़ी नदियाँ) समुद्र में जाकर

---

१ गृहस्थ आश्रम से जो प्रजा होती है वह सब आश्रम पाल सकती है, इसलिए गृहस्थाश्रम सब का मूल है। दूसरे आश्रम वालों से संसार नहीं चलता और अगर संसार न चले तो सब आश्रम नष्ट हो जायं।

आश्रय लेती हैं उसी प्रकार सब आश्रमवासी गृहस्थ के निकट आश्रय लेते हैं।

[मनुस्मृति]

पितरों और मनुष्यों को सदा जल देना और हमेशा स्वाध्याय करना (स्वानुकूल विद्या पढ़ना) मात्र अपने लिए कभी नहीं राँधना ("जो केवल अपना पेट भरने के लिए राँधता है वह अन्न नहीं खाता परन्तु पाप खाता है।" (भ० गी०)

बालक, स्ववासिनी (अपने घर में रहनेवाली बहन या लड़की) वृद्धजन, गर्भवती स्त्री, अतिथि और नौकर—इनको खिलाने के बाद दम्पति (गृहस्थ पति-पत्नी) भोजन करें।

[याज्ञवल्क्य स्मृति]

कर्म और पुनर्जन्म

उपनिषद् में आर्तभाग नाम का एक ऋषि याज्ञवल्क्य मुनि से पूछता है कि जब मनुष्य मर जाता है और उसके शारीरिक तत्व अग्नि, वायु, वगैरा पंच महाभूतों में मिल जाते हैं तब वह स्वयं कहाँ रहता है ?

बाद में आर्तभाग और याज्ञवल्क्य दोनों ने एकत्र विचार कर तै किया कि—कर्म में। "पुण्य कर्म से पुण्य होता है और पाप कर्म से पाप होता है।" अन्यत्र भी उपनिषद् में कहा है कि "जैसा मनुष्य का 'क्रतु' (कृति, प्रयत्न, संकल्प) वैसा वह" इस तरह हिन्दू-धर्म में कर्म का महानियम संसार के वैषम्य का —अलग-अलग स्वभाव तथा छोटे-बड़े सुख-दुख का—खुलासा करता है।

'कर्म' का अर्थ अकारण और अर्थहीन भाग्य की—कर्म की—रेखा नहीं होता। कर्म का अर्थ कृत काम है और इसके सिद्धान्त

का उद्देश्य नीति के उत्तरदायित्व को दूर फेंकना या मनुष्य को आलसी बनाना नहीं है; उलटे, इस जवाबदारी को मजबूत करने का तथा बोये बिना काटोगे नहीं—यह बताकर मनुष्य को अधिक उद्योगी बनाने का इसका उद्देश्य है। इसका मतलब सिर्फ इतना ही नहीं है कि अब तक या वर्तमान समय में हमने जो-जो कर्म किये हैं वे सुख-दुःख उत्पन्न करेंगे परन्तु यह भी बतलाता है कि हम अभी जो कर्म करते हैं वे पहले किये गए कर्म का ही फल हैं।

कर्म के तीन भेद किये गए हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। पूर्वजन्म के असंख्य कर्मों का खजाना 'संचित' है। इस खजाने में से जितना हिस्सा इस जन्म में काम में लाने के लिए निकाला वह 'प्रारब्ध' है, और इस जन्म में किये जानेवाले नए कर्म 'क्रियमाण' हैं।

कर्म के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त जुड़ा हुआ है। वह इस तरह, कि पुनर्जन्म न माने तो 'कृतहानि' और अकृताभ्यागम का प्रसंग आता है; अर्थात् हाल में किये गए कर्म निष्फल जायँ और बगैर कर्म किये यह स्थिति हुई है—ऐसा मानना पड़े। इसलिए अभी के कर्म को फलीभूत होने के लिए भविष्य का जन्म और वर्तमान समय की स्थिति का खुलासा करने के लिए भूतकाल में जन्म मानना ही चाहिए—ऐसा हिन्दू शास्त्र-कारों का कथन है। यह सिद्धान्त हिन्दू धर्म में ऐसा सर्वमान्य हो गया है कि जैन और बौद्ध पंथों ने वैदिक धर्म के अन्य कई सिद्धान्त छोड़ दिए, परन्तु वे भी इस एक सिद्धान्त को पकड़े रहे।

कर्म का सारा फल इस लोक में या परलोक में नहीं भोगना पड़ता। किये कर्म के लिए परलोक—स्वर्ग-नरक—में सुख-दुःख

भोगकर जीव पुनः इस लोक में जन्म लेता है और यह जन्म वह अपनी वासना और योग्यता के अनुसार प्राप्त करता है।

कुल मिलाकर जीव की तीन गतियाँ हैं—इस लोक में पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक और मोक्ष। जो परमात्मा की उत्तम भक्तिकर, तृष्णा का नाश कर और ज्ञान-संपादन कर मोक्ष नहीं प्राप्त करते वे अपने अच्छे-बुरे कर्मों के परिणामस्वरूप स्वर्ग-नरक पाते हैं और अन्त में इस संसार में पुनः अवतरित होते हैं और इस तरह सुख-दुःख के चक्कर में रहते हैं।

उद्धरण

जो जन्मा है वह जरूर मरेगा।
और जो मरा है वह जरूर जन्मेगा।

[भ० गी०]

"इस संसार में मनुष्य कृत-कर्म के पीछे-पीछे जाता है और जैसा कर्म किया हो वैसे कर्म से जुड़कर वह दूसरा जन्म ग्रहण करता है।"

[महाभारत]

चार पुरुषार्थ

हिन्दू शास्त्रकारों ने चार पुरुषार्थ माने हैं—(१) धर्म (२) अर्थ (३) काम और (४) मोक्ष।

पुरुषार्थ का अर्थ है—पुरुष, मनुष्य द्वारा प्राप्त करने योग्य वस्तुएँ।

पहले धर्म और मोक्ष को इकट्ठा गिनने से तीन ही पुरुषार्थ गिने जाते थे और उनको 'त्रिवर्ग' कहा जाता था।

त्रिवर्ग—तीन का वर्ग। और यह है भी सच कि जन-समाज

का बड़ा भाग गृहस्थाश्रमियों का है और गृहस्थाश्रम के मुख्य पुरुषार्थ धर्म, अर्थ और काम—ये तीन ही हैं।

अब धर्म और मोक्ष को अलग करके बोलें तो धर्म यानी शास्त्र की अमुक-अमुक कर्म करने की आज्ञा वर्णाश्रम धर्म यानी चार वर्ण और चार आश्रम का मनुष्यों द्वारा पालन करने योग्य नियम। इन नियमों से जन-समाज का धारण होता है (टिका हुआ है), इसलिए इसको धर्म कहना उचित ही है।

'अर्थ' यानी द्रव्य, रुपया-पैसा—जो इस दुनिया के सुख का एक साधन है और जो धर्माचरण में भी उपयोगी होता है।

काम का अर्थ है कामना का विषय—मनुष्य की सर्व कामना का विषय सुख का उपयोग है। इसके बिना अर्थ—द्रव्य उपार्जन करना बेकार है। उसी तरह मनुष्य के धर्माचरण में भी इस लोक में सुखी होने की इच्छा होती है जो कि स्वाभाविक है।

मोक्ष का अर्थ है बन्धन से छूटना; अज्ञान, दुःख, पाप—इन संसार के बन्धनों से छूटना। अज्ञान, दुःख, पाप संसार के बन्धन हैं। वर्णाश्रम धर्म का पालन भी परिणाम में उस अज्ञान और दुःख से भरे संसार से छूटने के लिए है।

उद्धरण

धर्म, अर्थ और काम का समान रूप से सेवन करना। जो पुरुष इनमें से एक का ही सेवन करता है वह कनिष्ठ है। इनमें से दो करने वाला मध्यम है और जो तीनों में लगा हुआ है वह उत्तम है।

मनुष्य को केवल धर्मपरायण नहीं होना चाहिए और अर्थ-परायण भी नहीं होना चाहिए; उसी तरह काम-परायण भी नहीं होना चाहिए। दिन के पूर्व भाग में धर्म, मध्यभाग में अर्थ और अन्त भाग में काम आचरण करना—यह शास्त्रकृत विधि है।

ऊँचा हाथ कर मैं हमेशा चिल्ला-चिल्लाकर कहता हूँ तो भी

कोई मेरी बात नहीं सुनता—धर्म द्वारा ही अर्थ और काम की सिद्धि होती है। तो भी इसको (धर्म को) लोग क्यों नहीं सेवन करते ?

यदि धर्म की हत्या करो तो धर्म हमारी हत्या करता है, इसका रक्षण करो तो वह हमारा रक्षण करता है, इसलिए मैं धर्म नहीं छोड़ता, जिससे कि यह हत होकर हमारा हनन न करे।

काम, भय, लोभ—किसी के लिए अरे ! प्राणों तक के लिए भी धर्म मत छोड़ो। धर्म नित्य है, सुख-दुःख अनित्य है, जीव नित्य है, इसका कारण (संसार) अनित्य है।

[महाभारत]

षड् दर्शन

संस्कृत काल के पूर्वार्ध में दर्शनों की उत्पत्ति हुई है। दर्शन का अर्थ है देखने का साधन। वेद का सत्य देखने के लिए ब्राह्मण शास्त्रकारों ने जो छः शास्त्र रचे हैं वे षड् दर्शन कहे जाते हैं। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों में कर्म और ज्ञान का जो उपदेश किया गया है उसमें कुछ परस्पर-विरुद्ध जैसा दीखता है, कुछ समझ के परे-जैसा है इत्यादि। सबको अविरुद्ध और समझने योग्य करने के लिए इन दर्शनों की रचना हुई है। इन दर्शनों का सिर्फ संक्षिप्त सार ही यहाँ दे सकेंगे। क्योंकि इनमें की गई चर्चा बहुत गहन हैं।

प्रथम दर्शन सांख्य दर्शन है—इसको कपिल मुनि ने रचा है। इसका सिद्धांत निम्न प्रकार है—वह संसार ताप (दुःख) से भरा है और वैसा होने का कारण यह है कि इसमें प्रकृति और पुरुष जो दो तत्व हैं वे आपस में मिल-जुल गए हैं, पुरुष (जीवात्मा) प्रकृति (यह जगत् जिससे बना है) से भिन्न है

तो भी अपने को प्रकृति के साथ फंसाकर प्रकृति की क्रियाओं को यह अपने में मान लेता है और इस तरह यह अपना दुःख खड़ा करता है। यह प्रकृति से स्वयं भिन्न है—ऐसा समझना ही मोक्ष का साधन है। यह प्रकृति सत्व, रजस् और तमस—इन तीन गुणों से बनी है और उनसे क्रमशः सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करती है। इस दर्शन में ईश्वर का अस्तित्व नहीं माना गया। इसकी मान्यता है कि प्रकृति स्वयं ही विकार पाकर इस जगत् का रूप धारण करती है।

दूसरा दर्शन योग दर्शन है। इसकी रचना पातञ्जलि ने की है। सांख्य दर्शन में ईश्वर नहीं माना गया, परन्तु इसमें माना जाता है। दूसरे सब विषयों में यह सांख्य के सिद्धांत स्वीकार करता है। विशेषतः प्रकृति से पुरुष को छुटकारा दिलाने के लिए प्राणायाम, ध्यान, समाधि वगैरा साधन बताता है।

तीसरा दर्शन वैशेषिक दर्शन है। इसको कणाद ने रचा है। पृथ्वी, जल, वायु और तेज—ये द्रव्य-मूल परमाणुओं से बने हैं—ऐसा यह मानता है, और इनके अतिरिक्त, आकाश, काल, दिशा आत्मा और मन मिलाकर ६ द्रव्य होते हैं। इन सब के विशेष धर्म—खास धर्म (गुण) इस दर्शन में निश्चित किये गए हैं, जिससे यह समझ में आ जाय कि आत्मा और अन्य द्रव्यों के बीच क्या फ़र्क है।

चौथा दर्शन न्याय दर्शन है। इसको गौतम ऋषि ने बनाया है। इसमें सत्य जानने के प्रमाण निश्चित किये गए हैं तथा किस तरह अनुमान करना चाहिए कि वह सच्चा हो और उसमें कैसे भूल होने की संभावना है आदि बतलाया गया है। इस दर्शन में अनुमान द्वारा बताया गया है कि किस प्रकार ईश्वर परमाणुओं से जगत् की सृष्टि करता है।

पांचवां दर्शन मीमांसा है—इसके सूत्रकार जैमिनि हैं। वेद

के ब्राह्मण भाग के वाक्यों का अर्थ करने की प्रणाली इस दर्शन में बताई गई है।

ब्राह्मण भाग में कर्म (यज्ञादि विधि) मुख्य होने के कारण इस दर्शन में भी कर्म के विषय में ही विचार किया गया है, इसलिए यह 'कर्म-मीमांसा' या 'धर्म-मीमांसा' भी कहलाता है। और पहले कर्म तत्पश्चात् ज्ञान आता है इसलिए इस दर्शन को पूर्व मीमांसा भी कहते हैं।

छठा दर्शन वेदान्त है। इसके सूत्रकार बादरायण व्यास हैं। वेद के अंत अथवा उस सिद्धांत का जो उपनिषद् में भरा है इस दर्शन में विचार किया गया है। जिस तरह ऊपर का दर्शन 'कर्म (धर्म) मीमांसा' और 'पूर्व मीमांसा' के नाम से प्रसिद्ध है, उसी तरह यह 'ब्रह्ममीमांसा' और 'उत्तर मीमांसा' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें मुख्यतः परमात्मा और जीवात्मा उनके सम्बन्ध तथा परमात्मा तक पहुँचने के साधन के विषय में इत्यादि अनेक महत्त्व की बातों पर इस दर्शन में विचार किया गया है। इस दर्शन के सूत्रों पर बाद में शंकराचार्य वगैरा आचार्यों ने भाष्य (टीका) लिखा है जिसके विषय में आगे चलकर कहा जायगा।

उद्धरण

जिस कर्म को करने के बाद, करते समय और करने के पहले लज्जा आवे उस सबको विवेकी मनुष्य तमोगुण का लक्षण जाने। जिस कर्म द्वारा इस लोक में मनुष्य प्रचुर ख्याति प्राप्त करने की इच्छा करे और वह सिद्ध न हो तो उससे शोकान्वित न हो—यह रजोगुण का लक्षण समझना। जो ऐसी इच्छा करे कि कर्म सब कोई (भले) ही जान ले (ऐसा उज्ज्वल और निर्दोष हो) जिसको करते मनुष्य को लज्जा न आवे और करने से उसका आत्मा प्रसन्न हो—यह सत्वगुण

का लक्षण है। तमोगुण का लक्षण काम है। रजोगुण का लक्षण अर्थ है। और सत्वगुण का लक्षण धर्म है। ये क्रमशः एक दूसरे से बढ़कर हैं।

[मनुस्मृति]

किसी के सुख के प्रति प्रेम रखना, दुःख के लिए दया करना, पुण्य देखकर सहमत होना, और पाप देखकर उपेक्षा करना (तिरस्कार नहीं)—ये चार मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा नाम की भावनाएँ कहलाती हैं। उनके द्वारा चित्त को प्रसन्न व निर्मल करना। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (बहुत चीजें अपने पास नहीं रखना, सादगी)—ये यम हैं। शौच, सन्तोष, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान—ये नियम हैं।

[योगसूत्र]

भागवत मत

जिस तरह उपनिषद् वगैरा ग्रन्थों में यद्यपि तत्व दर्शन है तो भी इस दर्शन की व्यवस्था तो भिन्न-भिन्न सूत्रकारों ने की है, उसी प्रकार भक्ति भी ठेठ ऋग्वेद से चली आती थी तो भी इसके पहले-पहल व्यवस्था नारद-शांडिल्य वगैरा मुनियों ने की है।

भागवत मत में भग का अर्थ ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, और तेज—इन छः गुणों से किया जाता है; और इन गुणों वाले परमात्मा को भगवान कहते हैं। जो भगवान का हो गया वह भागवत-भक्त और उनका मत हुआ भागवत मत। इस मत में भक्ति को परमात्मा को प्राप्त करने का मुख्य साधन माना गया है।

हिन्दू धर्म में भक्ति के मुख्य दो संप्रदाय प्रचलित हैं—एक

शैव और दूसरा वैष्णव; और इसलिए एक तरह से इन दोनों संप्रदायों को भागवत सम्प्रदाय कहा जा सकता है, परन्तु यह नाम खास कर वैष्णव संप्रदाय को ही दिया जाता है।

इस भागवत मत में—परमात्मा के पाँच स्वरूप माने गए हैं—(१) पर (२) व्यूह (३) विभव (४) अन्तर्यामी और (५) अर्चा। 'पर' वैकुण्ठ में विराजने वाले स्वयं नारायण हैं। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये इसके चार 'व्यूह' कहे जाने वालों का एकत्रित प्रकार है। राम-कृष्णादि अवतार 'विभव' हैं। विश्व में रहकर चलाने वाले और जीवात्मा के अन्तर में मित्र-भाव से रहने वाले को 'अन्तर्यामी' और मूर्ति को 'अर्चा' कहते हैं।

इस परमात्मा को पाने की साधनरूप जो भक्ति है वह दो प्रकार की है—साधारणतः जो भक्ति कहलाती है उसका अर्थ है परमात्मा पर प्रेम, और प्रपत्ति का अर्थ है शरण जाना। भक्त परमात्मा की शरण हो जाता है, इसलिए परमात्मा स्वयं उसका उद्धार करता है। भक्त को स्वयं कुछ करने को नहीं रहता।

जिस तरह भक्ति का एक भागवत (वैष्णव) सम्प्रदाय है, उसी तरह दूसरा शैव संप्रदाय है। इसमें शिव को महेश्वर पशुपति वगैरा नाम से भजा जाता है। 'पशु' यानी अज्ञानी जीव उनका पति है; 'पशुपति'—परमात्मा। वह जीव पर करुणा करके जीव को इस संसार (माया) रूपी पाश से छुड़ाता है—यह इस सम्प्रदाय का सिद्धान्त है।

पुराण

'पुराण' नाम के ग्रन्थ एक तरह से बहुत पुराने हैं और दूसरी तरह से नये हैं। पुराने इस तरह से हैं कि इनकी कितनी ही

कथाएँ बहुत ही पुरानी हैं; इतना ही नहीं, परन्तु इन कथाओं सम्बन्धी ठेठ ब्राह्मण और उपनिषद् काल में भी 'पुराण' नाम के ग्रन्थ थे—ऐसा देखने में आता है। परन्तु इस समय जिस रूप में ये ग्रन्थ दिखाई पड़ते हैं वह तो बेशक नया है। यहाँ तक कि हिन्दुस्तान की पतनावस्था में शिव और विष्णु की भक्ति के धर्मान्ध और अज्ञानी अनुयायिओं के बीच जो विरोध उत्पन्न हुआ, उसके परिणामस्वरूप इन दो देवों की निन्दा के वचन विरोधी ग्रन्थों में भर दिये गए हैं।

इसके अलावा हिन्दुस्तान में जैसे-जैसे नये-नये यात्रा के स्थान, नये-नये देवालय, नये-नये व्रत और नये-नये जाति के मंडल स्थापित होते गए वैसे-वैसे इन सब विषयों के सम्बन्ध की कथाएँ पुराणों में सम्मिलित होती गईं।

ये सब अन्तर्योग मिथ्या ही हुए हैं—ऐसी बात नहीं है। सृष्टि के सुन्दर और अद्भुत दृश्य जैसे-जैसे अधिक मिलते जाते हैं वैसे-वैसे वहाँ यात्रा करने की महिमा उत्पन्न होती जाती है। और अलग-अलग ऋतुओं के वैदिक यज्ञ होना बन्द हो गया, इसलिए उनके स्थान में अगर लोग अन्य व्रत और उत्सव कर के परमात्मा की भक्ति के साथ आनन्द मनाने लगें तो कुछ अस्वाभाविक नहीं है।

इसके अलावा पुराणों में से अन्य बहुत-कुछ जानने को मिलता है। एक प्रसिद्ध लक्षण के अनुसार पुराण में (१) सर्ग (सृष्टि) (२) प्रतिसर्ग (प्रलय) (३) देवता, प्रजापति वगैरा के वंश (४) मन्वन्तर की कथाएं और (५) सूर्य और चन्द्रवंश के राजर्षियों के चरित्र—ये पाँच विषय आते हैं। इसके अतिरिक्त वर्णाश्रम धर्म का निरूपण, सांख्य, योग, वेदान्त वगैरा शास्त्र का ज्ञान, भगवान के अवतारों की कथा और ज्ञान-भक्ति और

वैराग्य-सम्बन्धी स्तोत्र उपदेश आदि बातें स्थान-स्थान पर नजर आती हैं।

पुराण अठारह हैं—उनमें विष्णु पुराण, शिव पुराण, गरुड़ पुराण, मार्कण्डेय पुराण और श्रीमद्भगवत् वगैरा कई बहुत प्रसिद्ध हैं। ये सब व्यासजी के बनाये कहे जाते हैं, परन्तु सत्य बात तो यह है, जैसा कि ऊपर कहा गया है, कि कालक्रम में अनेक प्रकार के योग हो गए हैं। ये योग सबकी अपेक्षा स्कन्द पुराण और पद्म पुराण में विशेष हुए हैं—ऐसा मालूम पड़ता है।

उद्धरण

सर्व भूत (प्राणी) मात्र में जो भगवान का स्वरूप देखता है और भगवान में जो भूत-मात्र को देखता है उसको उत्तम भागवत (भगवान का भक्त) समझना। ईश्वर, ईश्वर के अधीन भक्त, अज्ञानी और शत्रु—इनके प्रति जो (क्रमशः) प्रेम, मैत्री, दया और उपेक्षा की भावना रखता है वह मध्यम भागवत है और जो श्रद्धा से मात्र मूर्ति में ही भगवान की पूजा करता है उसकी न भक्तों में और न अन्य प्राणीमात्र में गिनती होती है—वह प्राकृत (साधारण, कनिष्ठ) भागवत गिना जाता है।

× × ×

कुन्ती—हे जगद्गुरु! हमारे ऊपर हमेशा जहाँ-तहाँ विपत्तियाँ ही पड़ें कि जिससे आपका दर्शन हो; इस संसार का फिर दर्शन न हो।

एक बार भी जिसके नाम-श्रवण, अनुकीर्तन, नमन और स्मरण से चाण्डाल भी तुरन्त पवित्र हो जाता है तब तो जिनको हे भगवन्! तुम्हारा दर्शन हुआ है उनका क्या कहना? वह चाण्डाल भी बड़ा (मानने योग्य) है जिसकी जिह्वा पर तुम्हारा नाम है। जो आर्य (सत्पुरुष) तुम्हारे नाम का उच्चारण करते

हैं वे तप होम, स्नान, वेदाभ्यास—सब करते हैं—ऐसा जानना।

ब्राह्मण चाहे जितना विद्वान हो, परन्तु यदि वह दीन जनों की उपेक्षा करता है तो उसकी विद्या चली जाती है, जैसे फूटे बर्तन में से पानी बह जाता है।

× × ×

रन्तिदेव—मैं ईश्वर से ऋद्धि (सिद्धि) वाली परम गति नहीं चाहता और मोक्ष भी नहीं चाहता। सब देहधारियों के अन्तर में रहकर मैं उनकी पीड़ा भोगूँ और वे दुःख से छूटें (यही चाहता हूँ)। जीने के इच्छा रखने वाले दीन जन्तुओं को जल देकर जिलाने से मेरी क्षुधा, तृषा, मेहनत, थकावट, दीनता, ग्लानि, शोक, विषाद, मोह—सब दूर हो गए हैं।

× × ×

नारद—"अरे! हे प्रजापालक राजा (प्राचीन बर्हिष्) यज्ञ में तूने निर्दय होकर हजारों पशुओं—जीवों—को मारा है, वे तेरी क्रूरता याद करते हुए परलोक में तेरी बाट देख रहे हैं। वे ऐसे कोपायमान हो गए हैं कि जैसे ही तू यहाँ से परलोक में पहुँचेगा कि वे तुरन्त तुझको लोहे के शस्त्रों द्वारा काटने को तैयार हो जायँगे।" [श्रीमद् भागवत]

त्रिमूर्ति पंचायतन

परमात्मा जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण है और इन तीन कर्मों के आधार पर इसके (१) ब्रह्मा (१) विष्णु और (३) शिव—इन तीन रूपों की कल्पना की गई है। परमात्मा की सारी लीला इन तीन कामों में आ जाती है, इसलिए प्राचीन काल के इन्द्र, वरुण वगैरा देवों की जगह पुराण काल में इन तीन देवों को मुख्य गिना गया है।

ब्रह्मा की कल्पना वेद के 'ब्रह्मन्' से हुई है। हमने देखा कि ब्रह्मन् का अर्थ है—धार्मिक शब्द, स्तुति, वेद जो विश्व में व्याप्त होकर विश्व की वृद्धि करता है। इसका अधिष्ठाता देव ब्रह्मा है। जिस परमात्मा के शब्द से सारा ब्रह्माण्ड सर्जित हुआ है वही परमात्मा इसमें प्रवेश कर (विश्—प्रवेश करना धातु पर से) इसका पालन करता है। इस रूप में वह विष्णु कहलाता है। और इस पालन के लिए परमात्मा को इस जगत् में आकर भक्त का सहायक होना पड़ता है और दुष्ट का विनाश करना पड़ता है, इसलिए माना जाता है कि विष्णु के विविध अवतार हुए। परमात्मा का तीसरा स्वरूप 'रुद्र' या 'शिव' कहलाता है। तूफान में प्रकट होने वाली परमात्मा की उग्र मूर्ति को वेद में रुद्र का नाम दिया गया था तथा उसकी अग्नि के साथ एकता स्थापित की गई थी। अग्नि सब वस्तु को भस्म कर डालती है और संहार का देवता है, इसलिए रुद्र भी परमात्मा की संहार की मूर्ति बनता है। अग्नि की उठती ज्वाला इसकी मूर्ति (शिवलिङ्ग) है।

अग्नि की शिखा के आस-पास लिपटा धूम इसकी जटा है, अग्नि की वेदी इसकी जल-नाली है और इसकी भस्म इसके उपासकों के लिए धारण करने का चिह्न है। परन्तु अग्नि केवल संहार का देव नहीं है। हम पहले देख चुके हैं कि वह घर-घर में रहने वाला परमात्मा का तेज है—घर के कल्याण का आधार उस पर है और इसीलिए वह 'शिव' (मंगल) और 'शंका' (सुखकर) भी कहलाता है।

ब्रह्मा की उपासना वर्तमान काल में हिन्दू धर्म में नहीं चलती[1]—शिव और विष्णु के उपासक बहुत हैं। शैव पन्थ

---

१. सिर्फ अजमेर के पास पुष्कर क्षेत्र में ब्रह्मा की मूर्ति है।

का चिह्न भस्म, रुद्राक्ष और तीन रेखा का आड़ा तिलक है। गोपी चन्दन, तुलसी की माला और खड़ा तिलक वैष्णव पंथ के चिह्न हैं।

स्मार्त[1] हिन्दू शिव, विष्णु, सूर्य, गणपति और अंबिका (माता)—ये पाँच देव के 'आयतन' अर्थात् रहने के स्थानों की पूजा करते हैं। एक ही देव है परन्तु वह पाँच स्थानों में प्रकट होकर पाँच अलग-अलग नाम पाता है, इसलिए वे पंचदेव कहलाकर 'पंच-आयतन' कहलाते हैं। प्रत्येक ब्राह्मण को संध्या-वंदन में बुद्धि के प्रेरक प्रकाश स्वरूप सविता यानी सूर्य की उपासना करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त परमात्मा के दो स्वरूप, जिसमें से एक लोकरक्षा के लिए अवतार ग्रहण करता है और दूसरा मंगल सुखकारी है—एक विष्णु और दूसरा शिव—पूजे जाते हैं। इसके अतिरिक्त गणपति, वैदिक ब्रह्मणस्पति—वाणी का, विद्या का, सब विघ्न दूर करने वाला देव है और अंबिका सांख्य की प्रकृति है। वही वेदान्त की माया—जगन्माता-शक्ति है और संसार से पार लगाने वाली विद्या-शक्ति भी यही है।

अवतार

विष्णु जगत् का पालनकर्ता है और इसलिए इनको जगत् के रक्षण के लिए जगत् में आकर (प्रकट होकर) विविध कार्य करने पड़ते हैं। यह अवतार लेना किसी अन्य स्थान से यहाँ आना नहीं, क्योंकि विष्णु तो सर्वव्यापक है, परन्तु अपने स्वरूप में से अवतार लेकर इस जगत् में बड़ी-बड़ी विभूति के रूप में प्रकट होना ही अवतार है।

---

१. स्मार्त—जो किसी भी संप्रदाय में दीक्षित नहीं हुआ परन्तु जो सिर्फ स्मृति का धर्म पालता है।

विष्णु के दस निम्न अवतार गिनाये गए हैं—

(१) मत्स्य—मत्स्य जल के बाहर नहीं दिखाई पड़ता, परन्तु जल के अन्दर संचार करता है उसी तरह यद्यपि परमात्मा इस विश्व में दिखाई नहीं पड़ता तो भी अन्दर विद्यमान है।

(२) कूर्म—कछुआ जिस तरह अपने अंगों का संकोच करता है और प्रसार करता है उसी तरह परमात्मा भी अपने अंग के संकोच-विकास से जगत् की सर्जना और उसका संहार करता है।

(३) वराह—जिसको 'यज्ञ वराह' भी कहते हैं। जल में डूबी हुई पृथ्वी का वह उद्धार करता है। यह वराह ही आदित्य, यज्ञमूर्ति विष्णु है।

(४) नरसिंह—परमात्मा का नर और सिंह—मानुषिक और विकराल—दोनों रूपों का इसमें समावेश होता है।

(५) वामन—परमात्मा छोटे-से-छोटा और बड़े से भी बड़ा हो जाता है। सारा ब्रह्माण्ड इसके तीन पदों के लिए भी पर्याप्त नहीं होता (देखो ऋग्वेद संहिता)।

(६) परशुराम—अभिमानी और दुराचारी को उग्र दण्ड देने वाले परमात्मा का स्वरूप इसमें बताया गया है।

(७) राम—परमात्मा के न्याय और सत्यवचन रूपी धर्म का रामावतार में दर्शन होता है।

(८) कृष्ण—कृष्णावतार में गोकुल का कृष्ण और भारत-युद्ध का कृष्ण—ये दो भावनाएँ इकट्ठी मिल गई हैं। गोकुल-मथुरा का कृष्ण 'गोप' कृष्ण है और भारत-युद्ध का कृष्ण अर्जुन का 'सखा' कृष्ण है। परमात्मा सम्बन्धी ये दो भावनाएँ —गोप और सखा की—ठेठ ऋग्वेद संहिता से चली आती हैं। वहाँ आदित्य (विष्णु) को 'गोप' विशेषण लगाया गया है और जीवात्मा और परमात्मा को दो सखा—जोड़ुआ—कहा है।

यही 'नर' और 'नारायण' हैं और इनके अवतार अर्जुन और कृष्ण हैं। कृष्णावतार में प्रेम, लक्षण, भक्ति और कर्मयोग का उपदेश किया गया है।

(६) बुद्ध— बुद्धावतार में ज्ञान, शान्ति, समता, दया वगैरा दयालु, ज्ञानी और योगी के गुण प्रकट होते हैं।

(१०) कल्कि—कल्कि अवतार सत्य, न्याय और धर्म की विजय की मनुष्य द्वारा बाँधी गई आशा की भावना है।

स्तोत्र

देव—जो स्वयं पुण्यशालियों के घर में लक्ष्मी रूप है और पापियों के घर में दारिद्र्य-रूप है, ज्ञानियों के हृदय में बुद्धिरूप है, सत्पुरुषों का श्रद्धारूप है और कुलवान की लज्जा (खोटा काम करते शरम आना) रूप है—ऐसी तुझको हम नमस्कार करते हैं हे देवि! विश्व का रक्षणकर हे देवि! तू सकल शास्त्र की सारभूत बुद्धि के रूप में प्रसिद्ध है। तू दुर्गा इस कठिन भवसागर की असंग (जिसको यह समुद्र का जल छू नहीं सकता) नौका है। विष्णु के हृदय पर ही वास करने वाली लक्ष्मी तू ही है और चन्द्रमौलि (शिव) में वास करने वाली गौरी भी तू ही है।

जो देवी सर्वभूत में मात्र शक्ति रूप से, बुद्धि रूप से, क्षमा रूप से, शान्ति रूप से, क्रान्ति आदि रूप से विद्यमान है। चिति (चैतन्य) रूप से जो इस सारे जगत् को व्याप्त कर रही है उसको नमस्कार! उसको नमस्कार! वारम्वार नमस्कार!

[मार्कण्डेय पुराण]

जगत्कर्ता प्रभु इस त्रिभुवन की सृष्टि करता है, उसमें उसकी क्या इच्छा (हेतु) होगी? उसका शरीर क्या होगा? उसके

साधन क्या होंगे? क्या वस्तु लेकर यह बनाया होगा? (अर्थात् ईश्वर के जगत्कर्तृत्व के लिए जो-जो वस्तुएँ जरूरी हैं वे असम्भव हैं, इसलिए जगत् का कर्ता ईश्वर है ही नहीं)। इस कुतर्क द्वारा कि जिसको अतर्क्य ऐश्वर्य वाले तुझमें अवकाश ही नहीं है और इसलिए जो बुरा है, कितने वाचाल मूर्ख जगत को भरमाते हैं।

वेद, सांख्य, योग, पशुपति (शैव) मत, वैष्णव मत आदि अलग-अलग पन्थ हैं उनमें अमुक उत्तम है, अमुक अच्छा है—ऐसा कहा जाता है। परंतु यह विविधता मनुष्य की भिन्न-भिन्न रुचि के कारण हुई। टेढ़े-सीधे अनेक मार्गों से जाने वाले मनुष्यों का पहुँचने का स्थान तो एक ही है जिस प्रकार सारे जल-प्रवाह अन्त में समुद्र में ही पहुँचते हैं।

यदि समुद्र को दावात बनाया जाय, उसमें नीलगिरि जितना काजल (स्याही) भरा हो, उत्तम कल्पवृक्ष की कलम हो और पृथ्वी रूपी कागज हो और उसको लेकर सरस्वती स्वयं हमेशा लिखती रहे तो भी हे प्रभु! तेरी महिमा का पार तो वह नहीं पा सकती।

[महिम्नः स्तोत्र]

जिसकी कृपा मूक को वाचाल करती है और पंगु को पर्वत पार कराती है, उस परमानन्द माधव को मैं प्रणाम करता हूँ।

हे देवाधिदेव! तू ही मेरी माता है, तू ही पिता है, तू ही बन्धु है, तू ही मित्र है, तू ही विद्या है, तू ही धन है। हे देवाधिदेव! मेरा सर्वस्व तू ही है।

वही शुभलग्न है, वही शुभ दिवस है, ग्रहयोग भी वही है और चन्द्रबल भी वही है, विद्याबल भी वही है, और देवबल भी वही है कि जब हे लक्ष्मीपति प्रभु! मैं तेरे दो चरणकमलों का स्मरण करूँ।

पवित्र चाहे अपवित्र अवस्था में रहकर जो पुण्डरीकाक्ष भगवान् का स्मरण करता है वह बाहर और अन्दर से पवित्र ही है।

[प्रकीर्ण स्तोत्र]

सैकड़ों योजन से भी जो "गंगा, गंगा" चिल्लाता है वह सब पापों से मुक्त हो जाता है और विष्णु-लोक में जाता है।

हे दया सागर! इस संसाररूपी सर्प से मेरा (जो तेरी शरण आया है) रक्षण कर।

[विविध]

शंकराचार्य

हिन्दू धर्म के इतिहास में हमने जिसको संस्कृत-काल कहा उसके अन्त भाग में इस धर्म को फिर से जागृत करने वाले कई आचार्य हुए। इन्होंने प्राचीन ग्रन्थों में से थोड़े-से मुख्य-मुख्य ग्रन्थ लेकर जैसे कि उपनिषद्, भगवद्गीता, वेदान्तसूत्र—उन पर भाष्य लिखा। और इनके द्वारा सच्चा सनातन हिन्दू धर्म क्या है—यह लोगों को समझाया तथा उनको सच्चे धर्म के मार्ग पर लाने के लिए संस्थाएं बनाईं। इन आचार्यों में सबसे प्राचीन शंकराचार्य हैं।

श्री शंकराचार्य केरल देश में एक ब्राह्मण-माता के पेट से उत्पन्न हुए थे। इनके पिता की इनके शैशव में ही मृत्यु हो जाने के कारण इनको पाल-पोसकर बड़ा करने का काम इनकी माता के सिर पड़ा। माता ने इनका पूर्ण स्नेह से लालन-पालन किया। पांचवें वर्ष सगे-सम्बन्धियों की मदद से इनका जनेऊ किया। शंकर ने ब्रह्मचर्य धारण किया और सकल शास्त्र में पारंगत हो गए। समय होने पर मां इनको संसार में, गृहस्थाश्रम में, फँसाने

का विचार करती थीं तब शंकर ने एक दिन माता के पास हाथ जोड़कर संन्यास ग्रहण करने की अनुमति माँगी। माता के कोमल हृदय को इससे बड़ा दुःख हुआ। फिर ऐसा कहा जाता है कि एक बार शंकर नदी में नहाने गये थे वहाँ मगर ने इनका पाँव पकड़ लिया। शंकर ने चीख मारी, उसको सुनकर माता दौड़ी आईं। उनसे शंकर ने कहा कि माता यदि तुम मुझे संन्यास लेने की अनुमति दो तो यह मगर मुझे छोड़ दे। इसलिए माता ने वैसा करना कबूल कर लिया और मगर ने शंकर का पैर छोड़ दिया। इस कथा का तात्पर्य यह मालूम पड़ता है कि शंकर ने अपनी माता को यह समझाया कि इस संसार रूपी नदी में मोहरूपी मगर मनुष्य को पकड़ता है और इसके मुँह में से छूटने का उपाय संन्यास के सिवा दूसरा नहीं है। इस समझ से माता ने इनको संन्यास ग्रहण करने की आज्ञा दी।

शंकर ने यह सोचकर कि वृद्ध माता को दूर नहाने जाने की दिक्कत न पड़े घर की कृष्ण की मूर्ति को नदी-किनारे लाकर स्थापित किया। सगे लोगों को मां के सुपुर्द किया और कहा कि हे मां जब तू याद करेगी तब मैं आकर तेरे समक्ष खड़ा हो जाऊँगा। तत्पश्चात् शंकराचार्य ने नर्मदा नदी के किनारे जाकर गोविन्द पादाचार्य के पास संन्यास लिया और उनके पास से वेदान्त के साथ योग का भी गहरा ज्ञान प्राप्त किया। ऐसा कहा जाता है कि ये प्रयाग गये, वहाँ कुमारिल भट्ट ने अग्नि सुलगाई और उसमें उन्होंने अपना देह होम दिया। अग्नि ने इनके आधे शरीर को जला दिया था। वहाँ शंकर ने इनको ज्ञान का उपदेश किया, उसको सुनकर कुमारिल भट्ट ने कहा—"यतिराज ! मैंने नास्तिक मत का खंडन कर वैदिक कर्म-मार्ग का प्रवर्तन किया है, तुम ज्ञान मार्ग का प्रवर्तन करना और उसके लिए मंडनमिश्र

नाम के एक मेरे शिष्य के पास जाकर उस पर जय प्राप्त करना।"

शंकराचार्य मंडनमिश्र के गाँव आये। गाँव पास आकर पनिहारियों से मंडन मिश्र का घर पूछा। उन्होंने निशानी बताई—"जिस घर के दरवाजे तोता-मैना वेद उच्चारण कर रहे हों तथा शास्त्रीय वाद-विवाद कर रहे हों उसको मंडनमिश्र का घर समझना।" शंकर ने मंडन मिश्र का घर इस निशानी से ढूँढ निकाला। मंडन मिश्र श्राद्ध करता था। वह संन्यासी को देखकर बहुत गुस्सा हुआ, क्योंकि श्राद्ध में संन्यासी का आना निषिद्ध गिना जाता है। तत्पश्चात् मंडन मिश्र और शंकर भगवान् का मीमांसा और वेदान्त-विषयक वाद-विवाद शुरू हुआ। उसमें मंडन मिश्र की पत्नी मध्यस्थ बनी। इन दोनों का विवाद सुनकर अन्त में सरस्वती ने शंकराचार्य की जय घोषित की और पहले की प्रतिज्ञा के मुताबिक मंडन मिश्र संन्यासी हो गया। उसके बाद शंकराचार्य ने सारे हिन्दुस्तान में घूमकर प्राचीन उपनिषदों के अद्वैतवाद और ज्ञानवाद का प्रचार किया और उसके रक्षण के लिए हिन्दुस्तान के चारों कोनों में चार मठ स्थापित किये; उनमें अपने चार मुख्य शिष्यों को नियोजित किया। इस सब समय में शंकराचार्य अपनी माता को भूल नहीं गए थे। वह स्नेहालु पुत्र माता के अवसान-समय उसके पास जा पहुँचा और सगे-सम्बन्धी उसकी दाह-क्रिया करने भी न आये। उससे जरा भी न घबराते हुए शंकराचार्य ने उसकी सब अन्त्येष्टि क्रिया की, यद्यपि संन्यासी को क्रिया का निषेध है। स्वयं को और जगत् को यह महान सत्य दिखाया कि शास्त्र के विधि-निषेध की अपेक्षा माता पुत्र का स्नेह अधिक है।

शंकराचार्य के हिन्दुस्तान पर दो बड़े उपकार हैं—(१) एक

तो इनके समय में हिन्दुस्तान में असंख्य छोटे-बड़े देवों की भाँति-भाँति की पूजा, तत्सम्बन्धी असंख्य धार्मिक वहम और प्राय: दुराचार प्रचलित थे—इनका इन्होंने खण्डन किया। इस खण्डन के साथ ही इन्होंने बताया कि शिव और विष्णु एक ही परमात्मा के आनन्द और व्यापकता सूचित करने वाले भिन्न-भिन्न नाम हैं और देवी ही परमात्मा की जगन्माता माया शक्ति हैं। (२) दूसरे शंकाराचार्य ने जीवमात्र का परमात्मा में अद्वैत सिद्ध कर आगे चलकर प्रस्फुटित होनेवाले ज्ञान-प्रधान सन्त धर्म (कबीर वगैरा) का बीजारोपण किया। इस सम्बन्ध में एक आख्यायिका ऐसी है कि एक बार शंकराचार्य अपने शिष्यों को लेकर काशी में गंगा नहाने जाते थे वहाँ रास्ते में इनको एक अछूत ने रोक लिया। उससे शंकराचार्य ने कहा—"हट, दूर हो" तब अछूत ने इनको उपदेश दिया—"हे महाराज ! मैं ब्राह्मण और तुम चाण्डाल—ऐसी मिथ्या बुद्धि आपको शोभा देती है ? शरीरमात्र में रहने वाला परमात्मा ही हमारा-तुम्हारा और सबका सच्चा स्वरूप है—यह क्यों भूल जाते हो ?" शंकराचार्य को यह सुनकर एकदम अपने स्वरूप का भान हुआ और ऐसा अभेद ज्ञान जिसने प्राप्त किया है वह ब्राह्मण हो या अछूत—चाहे जो हो—परन्तु वह वन्दनीय है—यह उन्होंने घोषित किया। यह है आगे चलकर ऊपर आने वाला सन्त धर्म का बीज।

शंकराचार्य ने १६वें वर्ष से संन्यास ग्रहण कर सोलह वर्ष उपनिषद् धर्म का उपदेश किया। इसी बीच उन्होंने कन्या-कुमारी से बद्रिकाश्रम और काश्मीर तक तथा द्वारका से जगन्नाथपुरी तक हिन्दुस्तान के सब भाग में पैदल चलकर खूब यात्रा की। राज्यों की अन्धाधुन्ध में इस काल में इनको कैसे दुःख झेलने पड़े होंगे—यह हम सहज कल्पना कर सकते हैं।

शारीरिक श्रम के परिणामस्वरूप उसी तरह वाद-विवाद और उपदेश के कारण जो बेहद श्रम उठाना पड़ा उसके कारण बत्तीस वर्ष की तरुण वय में उनका देहावसान हो गया। इनके मुख्य सिद्धान्त नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) धर्म और भक्ति से चित्त शुद्ध होता है, परन्तु इस संसार से मुक्ति दिलाने वाला अन्तिम साधन तो ज्ञान ही है।

(२) वह ज्ञान यह है कि—ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव (अगर सच देखा जाय) तो ब्रह्म रूप ही है।

(३) इस ज्ञान को ठीक-ठीक प्राप्त करने के लिए संन्यास की जरूरत है और यह संन्यास जिस घड़ी सच्चा वैराग्य उपजता है, उसी घड़ी लिया जा सकता है। गृहस्थाश्रम में उतरने की जरूरत नहीं है।

उद्धरण

ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव केवल ब्रह्म ही है।

हे विष्णु—मेरी अनीति दूर करो, मेरा मन मेरे वश करो, विषय-रूपी मृगतृष्णा को शान्त करो। मुझमें भूतदया—प्राणी-मात्र के प्रति दया—उत्पन्न कर और संसार-सागर में से मुझे तारो।

हे नाथ! देखो कि हमारे-तुम्हारे बीच की भेद-बुद्धि मुझमें से विलीन हो गई है तथापि (मैं जानता हूँ कि) मैं तेरा आविर्भाव हूँ, तू मेरा आविर्भाव नहीं। तरंग (लहर) समुद्र का आविर्भाव है, समुद्र तरंग का आविर्भाव नहीं। हे मूढ़मति (मूर्ख), गोविन्द को भज, गोविन्द को भज, गोविन्द को भज। जब मृत्यु पास आकर खड़ी होगी उस समय यह व्याकरण रटना तेरे काम नहीं आयगा।

शरीर काशी क्षेत्र है और ज्ञान रूपी त्रिभुवन माता सर्व-व्यापक गंगा है, भक्ति और श्रद्धा गया है, और अपने गुरु के

चरणों का ध्यान रूपी योग ही प्रयाग है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था इत्यादि सर्व त्रिपुटियों के परे जो सब प्राणियों के अन्तःकरण का साक्षी अन्तरात्मा है वही काशी विश्वेश्वर है। ये सब मेरे देह में ही रहते हैं तो फिर दूसरा तीर्थ कहाँ है ?

चांडाल—हे उत्तम ब्राह्मण, मुझे बता—तू किसको दूर करना चाहता है ? अन्नमय से (देह से) अन्नमय को हटाना चाहता है या चैतन्य से चैतन्य को अलग करना चाहता है ? (अर्थात् देह लो या आत्मा, दोनों तरह से अपना अभेद है।)

[शङ्कराचार्य कृत स्तोत्रादिक]

रामानुजाचार्य

इन महान् आचार्य का जन्म ई० स० १०१७ में हुआ था। इनके पिता का नाम केशव स्वेमया जी और माता का नाम कान्तिमती था। बचपन में इन्होंने यादवप्रकाश नाम के एक वेदान्ती के पास अभ्यास किया। ऐसा कहा जाता है कि अभ्यास के बीच उपनिषद् के वाक्यों के अर्थ की बाबत इनके और गुरू के बीच जो समय-समय पर मतभेद पड़ता था उसके कारण उनके बीच ऐसी विरोध की भावना जागृत हुई कि गुरु इनको मार डालने के इरादे से काशी की यात्रा में साथ ले गए। परन्तु इनके एक ममेरे भाई ने इनको चेतावनी दे दी, इसलिए ये रास्ते में से भागकर एक भील और भीलनी (कथा में जिनको नारायण और लक्ष्मी कहा है) की मदद से कांची नगरी आ पहुँचे। वहाँ यामुनाचार्य नाम के एक विशिष्टाद्वैतवादी भक्त वेदान्ती नें इनको श्रीरंग आकर अपने पंथ की दीक्षा लेने को कहा। रामानुजाचार्य के पहुँचने से पहले ही यामुनाचार्य देह छोड़

चुके थे। आचार्य के शव के दाहिने हाथ की तीन अंगुलियों को मुड़ी देखकर रामानुजाचार्य ने पूछा कि ये क्यों मुड़ी हैं? यामुनाचार्य के शिष्यों ने उत्तर दिया कि मरण-समय ये तीन बातें गिनाकर उनको सिद्ध करने के लिए आपको कहते गए हैं— एक तो ब्रह्मसूत्र पर विशिष्टाद्वैत का भाष्य लिखना, दूसरे 'पराशर'[1] का नाम रखना और तीसरे 'शठ कोप'[2] का नाम रखना। रामानुजाचार्य ने इन प्रतिज्ञाओं को स्वीकार किया और कालक्रम में उनको पूरा किया।

रामानुजाचार्य को स्त्री अपने योग्य न मिली थी और उसके साथ घटित दो-तीन प्रसंगों से इनको वैराग्य हो गया। शास्त्र में—श्रुति उसी तरह स्मृति में—उपदिष्ट गृहस्थाश्रम धर्म का ये बराबर पालन करते थे और इसलिए एक बार इनकी पत्नी ने घर में अन्न होते हुए भी एक अतिथि को दरवाजे से लौटा दिया। जब इन्होंने यह बात सुनी तब इनको अत्यन्त खेद हुआ और ऐसे अनुभव बहुत बार होने से आखिरकार इन्होंने संन्यास लेकर श्रीरंग जी में वास किया। वहाँ इनके गुरु महापूर्ण स्वामी से इनको जो उपदेश मिला उसके सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि उसमें यह शर्त थी कि किसीसे भी वह उपदेश नहीं कहना, परन्तु इस शर्त को तोड़ने के बदले गुरु के शाप से मुझे नरक-यातना भले ही भुगतना पड़े लेकिन मैं इस सत्य को अन्य जीवों को दिये बिना नहीं रहूँगा—ऐसा निश्चय कर इन्होंने गुरु के पास से मिले उपदेश को जगत् में प्रकट किया।

रामानुजाचार्य के सिद्धान्त में ध्यान रखने योग्य बातें नीचे लिखे अनुसार हैं—

---

१. विष्णुपुराण का महर्षि।

२. शठ कोप नाम का प्राचीन काल में तमिल देश में एक शूद्र भक्त हो गया है।

(१) परमात्मा सर्वकल्याण गुण से परिपूर्ण है। सृष्टि के जड़ पदार्थ और चेतन जीव उसके शरीर रूप हैं। यह शरीर परमात्मा का विशेषण है, इसलिए इस सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है।

(२) भागवत मत ही सच्चा वेदान्त मत है।

(३) कर्म और (आत्मा का) ज्ञान— ये दोनों मिलकर भक्ति उपजाते हैं और भक्ति ही परमात्मा तक पहुँचने का साधन है। परमात्मा की भक्ति ही उसका सच्चा ज्ञान है।

(४) रामानुजाचार्य वर्णाश्रम धर्म के कर्मकाण्ड को बहुत महत्व देते हैं। उसमें से सिर्फ एक खिड़की खुली रखते हैं और वह है प्रपत्ति की। इस दृष्टि से रामानुजाचार्य के लिए ब्राह्मण और शूद्र का भेद न था—यह बताने वाली एक आख्यायिका ऐसी है कि यामुनाचार्य का शिष्य कांचीपूर्ण शूद्र था, परन्तु परमभक्त था। उसको खिलाने से मानो घर अपवित्र हो गया हो, इसप्रकार जगह और वर्तनों को धोती से पोंछती तथा स्वयं स्नान करती अपनी स्त्री को देखकर रामानुजाचार्य को बहुत बुरा लगा।

मध्वाचार्य

ई० स० १२-१३ वीं शताब्दी में मध्वाचार्य नाम के एक आचार्य हुए। ये ऋग्वेद संहिता वगैरा ग्रन्थों के खास अभ्यासी थे और इसलिए इनका झुकाव भक्ति की ओर अधिक था। इनको शंकराचार्य का अद्वैतवाद बिलकुल पसन्द नहीं आया। रामानुजाचार्य की तरह थोड़ा-बहुत अद्वैत भी स्वीकार करते हुए इन्होंने ईश्वर, जीव और जड़पदार्थ—सबका परस्पर भेद प्रतिपादन किया। रामानुजाचार्य की माफिक मध्वाचार्य भी विष्णु को ही परम देव मानते हैं और ब्रह्मा, शिव वगैरा उसके वशवर्ती

देव हैं, ऐसा कहते हैं। इसके उपरान्त इनके सिद्धान्त का संक्षेप में सार यह है—

(१) स्वतंत्र और परतंत्र—इस तरह के दो तत्व हैं। उसमें स्वतंत्र परमात्मा विष्णु है; अन्य सर्व ब्रह्मादिक देव, सामान्य जीव तथा जड़ पदार्थ परतन्त्र हैं। वे विष्णु के अधीन हैं और विष्णु जैसा चलाता है, वैसा चलते हैं।

(२) जीव सेवक है और विष्णु सेव्य है। विष्णु की सेवा में मुख्य भजन है। यह भजन तीन प्रकार से हो सकता है—वाणी, शरीर और मन द्वारा। सत्य, हित. प्रिय बोलना तथा स्वधर्म के ग्रन्थ पढ़ना (स्वाध्याय)– ये चार वाणी द्वारा की जाने वाली भक्ति के प्रकार हैं। दान, परित्राण (संकट में से दुःखी को तारना) और परिरक्षण (आते दुःख को टालना) ये तीन शारीरिक भजन के प्रकार हैं। और दया, स्पृहा (प्रभु के प्रति रुचि) और श्रद्धा—ये तीन मानसिक भजन के प्रकार हैं। इस तरह सब मिलकर भजन के दस प्रकार हैं।

वल्लभाचार्य

इस आचार्य का जन्म ई० स० १४७६ में दक्षिण के एक ब्राह्मण कुटुम्ब में हुआ था। इनके पिता लक्ष्मणभट्ट जी और माता यल्लमागारू काशी से स्वदेश जाने को निकले थे, वहाँ रास्ते में चम्पारण्य में माता के गर्भस्राव हुआ और उन्होंने गर्भ को मरा समझकर एक शमी वृक्ष के खोखला में पत्तों से ढककर रख दिया। परन्तु रात में स्वप्न आने के कारण माता-पिता ने खोखला में जाकर देखा तो बालक खेलता देखा। उन्होंने बालक को पाला-पोसा, योग्य वय में उसका जनेऊ किया और जो श्रेष्ठ पंडित कुल के बालक को शोभा दे, ऐसे वेद से लगाकर सब प्रकार का अभ्यास कराया। पिता के मरण के बाद आचार्य महाराज पृथ्वी

का (हिन्दुस्तान) परिक्रमण करने के लिए निकले, उसमें पहले तो इन्होंने कृष्णदेव राजा की सभा में पंडितों को पराजित कर राजा से पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त स्वीकार करवाए। उसके बाद आचार्य महाराज ने दक्षिण में रामेश्वर-पर्यन्त, पश्चिम में गुजरात और सिन्ध, उत्तर में हरिद्वार गंगोत्री और पूर्व में जगन्नाथपुरी तक खूब पर्यटन किया और भक्ति-मार्ग का अच्छी तरह से स्थापन किया।

वल्लभाचार्य का सिद्धान्त नीचे लिखे अनुसार है—

(१) अग्नि में से जिस प्रकार चिनगारी निकलती है अथवा जिस प्रकार मकड़ी अपने में से जाला निकालती, है उसी तरह ब्रह्म में से जीव तथा जड़ सृष्टि निकली है।

(२) शंकराचार्य ब्रह्म में मायारूपी मेल मानते हैं और रामानुजाचार्य इसमें जीव और जड़ पदार्थरूपी विशेषण लगाते हैं। यह सब इस सिद्धान्त में नहीं है इसलिए वल्लभाचार्य इसको 'शुद्धाद्वैत कहते हैं।

(३) कृष्ण ही पुराण पुरुषोत्तम परमात्मा है और उसको पाने का साधन भक्ति है। ज्ञान और वैराग्य भक्ति के साधन रूप में काम आते हैं; परन्तु परमात्मा को पाने के लिए अन्त में तो भक्ति की ही जरूरत है।

(४) इस भक्ति के विविध प्रकार हैं, परंतु उसमें प्रेम लक्षण भक्ति उत्तम है। फिर उसकी भक्ति के मर्यादा और पुष्टि नाम के दो मार्ग हैं। शास्त्र के विधि-निषेधों का ख्याल रखकर प्रभु की सेवा करना मर्यादा मार्ग है। शास्त्र में बताये गए साधन न होते हुए भी केवल प्रभु की कृपा पर ही आधार रखकर उसकी भक्ति करना और कृपा पाना पुष्टि मार्ग[1] है। पुष्टि अर्थात् पोषण,

१. पुष्टि, यानी खाना पीना और देह पुष्ट करना—ऐसा कुछ लोग अर्थ करते हैं—यह बिलकुल भूल है।

प्रभु जीवात्मा का धार्मिक पोषण करे; अर्थात् उसकी स्वतंत्र कृपा जिसको शास्त्र के नियम की भी जरूरत नहीं है।

संक्षेप में 'शुद्धाद्वैत' और 'पुष्टि मार्ग' इन दोनों को वल्लभाचार्य के प्रमुख सिद्धांत कहा जा सकता है।

भाषा युग

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से हिन्दुस्तान में नया ही जमाना शुरू होता है। इस समय इस देश में मुसलमानों का राज्य स्थापित हुआ। परन्तु इससे भी अधिक महत्व की वस्तु यह है कि अब से हिन्दुस्तान के धार्मिक उद्गार संस्कृत के बदले भाषा में होने लगे। इससे इसके धर्म को नया ही जीवन मिला। इतना ही नहीं, परन्तु जो नया धार्मिक चैतन्य देश में व्याप्त हो गया वह ऐसा प्रबल साबित हुआ कि उसने संस्कृत न जानने वाले अनेक मूकों को वाणी दी और जो पर्वत संस्कृत पढ़े-लिखे पंडित न लांघ सकते थे, वे उसको सरलता से लांघ गए। इस धार्मिक उत्थान का खास लक्षण निम्न प्रकार का ज्ञात होता है—

(१) एक तो संस्कृत के बदले भाषा का प्रयोग।

(२) कर्मकांड के प्रति अरुचि और उसके साथ अनेक देवी-देवताओं की उपासना के बदले एक विष्णु या इस तरह के किसी नाम के एक परमात्मा में ही निष्ठा।

(३) इस परमात्मा के द्वार पर किसी भी तरह का भेद नहीं। वह प्रभु ब्राह्मणों का ही नहीं, कुम्हार, दरजी, हज्जाम, छीपा, कसाई और अछूत तक का है।

वह पुरुष का ही नहीं, स्त्रियों का भी है; वह बाबा और त्यागी का ही नहीं, गृहस्थ और संसारी का भी है।

(४) यज्ञयाग—जप तप कर्मकाण्ड से यह नहीं मिलता; इसको आत्मा के अन्तर में ही अनुभव करना है।

भागवत धर्म में या अद्वैत सिद्धान्त में यह उपदेश कुछ नया नहीं है, परन्तु अनेक शताब्दियों तक जो धूलि-धूसरित हो गया था वह उस समय हिन्दुस्तान के धार्मिक जीवन में फिर से चमक उठा। इस नये धार्मिक अभ्युत्थान में दो प्रवाह दिखाई पड़ते हैं—एक ज्ञान-प्रधान और दूसरा भक्ति-प्रधान।

भाषा (चलतू बोली) निश्चय ही शाखा है और संस्कृत मूल है। मूल धूल में रहता है, परन्तु फल-फूल तो शाखा पर ही हैं।

[एक हिन्दी दोहा]

सन्त-साधु

(१) रामानन्द—लोगों का कहना है कि ये (ई० स० १४–१५वीं शताब्दी में) रामानुजाचार्य के संप्रदाय में पाँचवें आचार्य थे। दक्षिण के वैष्णवों ने इनका अपमान किया, इसलिए रामानन्द ने वहाँ से काशी आकर मठ स्थापित किया। इन्होंने रामानुजाचार्य की तरह भक्ति-मार्ग का उपदेश किया। परन्तु रामानुजाचार्य ने विष्णु-वासुदेव, पुरुषोत्तम-नारायण वगैरा नामों से परमात्मा का उपदेश किया था। उसकी जगह रामानन्दजी ने एक राम-नाम की महिमा प्रवर्तित की तथा रामानुजाचार्य ने जात-पाँत का भेद माना था, वह इन्होंने छोड़ दिया।

(२) कबीर—(ई० स० १५वीं शताब्दी) रामानन्द के बारह शिष्यों में से एक कबीर थे। ये अपने ज्ञान के कारण से कबीर साहब के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मूर्तिपूजा, उसी तरह व्रत, जप, तप वगैरा धर्मकाण्ड की प्रक्रिया का जोरदार खण्डन किया और 'राम' और 'रहीम', हिन्दू और मुसलमान, दोनों का

ईश्वर एक ही है—इसका प्रतिपादन किया। इनका उपदेश अद्वैतवाद, वैराग्य और ज्ञान का था और ऐसा कहना भी अनुचित न होगा कि संस्कृत-काल में जो ज्ञान शंकराचार्य ने दिया वह इस भाषायुग में कबीर ने दिया। हिन्दू और मुसलमान, दोनों कबीर को अपने-अपने ढङ्ग से मानते हैं और ऐसा कहा जाता है कि इनकी मृत्यु के बाद इनको जलाया जाय या गाड़ा जाय—इस तरह का झगड़ा इनके शिष्यों में उठ खड़ा हुआ; परन्तु जब इनके शरीर पर की ढकी हुई चादर उठाई गई तब इनके शरीर की जगह सिर्फ फूल का ढेर मिला।

(३) नानकशाह (ई० स० १४६६—१५३८) इनके विचार कबीर-साहब से मिलते थे; न कोई हिन्दू और न कोई मुसलमान है, इस प्रकार के धर्म और जाति के भेद का इन्होंने निषेध किया है तथा अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। इस कारण से इनके पन्थ को कुछ मुसलमानों ने भी ग्रहण किया। परन्तु नानकशाह मूल हिन्दू धर्म के ही उपदेशक थे। इन्होंने गुरु-महिमा खूब गाई है तथा जन्म-मरणरूपी संसार के चक्कर से छूटकर 'हरि' में मिल जाना आदि वेदान्त का उपदेश किया है। सिक्ख लोग नानकशाह के अनुयायी हैं और इनके साधू संसार से विरक्त रहते हैं, इसलिए उदासी बाबा कहलाते हैं। इनके पन्थ का मुख्य ग्रन्थ 'आदि ग्रन्थ' के नाम से प्रसिद्ध है।

(४) तुलसीदास (ई० स० १५३२—१६२३) रामानन्द के बाद गुरुक्रम में सातवें, प्रसिद्ध 'तुलसीकृत रामायण' के कर्ता तुलसीदास जी हुए। इनका राम पर अद्भुत प्रेम था। भारत के तत्व-ज्ञानियों के उच्च तत्व-विचार और संसार के स्वरूप-सम्बन्धी चिंतन से इनका काव्य स्थल-स्थल पर अंकित है। परन्तु इनकी सच्ची विलक्षणता तो इनके राम के प्रति प्रेम में है। इनके 'सियावर रामचन्द्र' के जयजयकार के उद्गार, जिसने एक

भी वक्त तुलसीकृत रामायण सुनी हो, उसके कान में नित्य प्रति गूंजते रहते हैं। इनका उपदेश गम्भीर और विशुद्ध है और ज्ञान, भक्ति और वैराग्य तीनों की, विशेषकर भक्ति की, इन पर छाप लगी हुई है।

(५) चैतन्य—ई० सन् बारहवीं शताब्दी में निम्बार्क और जयदेव ने कृष्ण-भक्ति प्रकट की। उसके बाद एक लम्बा समय बीतने पर पन्द्रहवीं शताब्दी में (जन्म ई० स०१४८५) यह महान् कृष्ण-भक्त हुआ। ये बंगाल में कृष्ण के अवतार के समान पूजे जाते हैं। इनका जन्म का नाम विश्वम्भर था। ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने बचपन से ही बुद्धिशाली होने के कारण अनेक पण्डितों पर जय प्राप्त कर ली थी। परन्तु इनकी सच्ची महिमा तो इनकी आवेशपूर्ण राधा-कृष्ण की भक्ति, इनके संकीर्तन, रास-लीला, इनकी प्रेम-समाधि वगैरा में प्रकट होती है। इनके प्रभु रूप से पूर्ण नेत्रों में जाति-पांति का भेद न था।

मुसलमान भी इनके शिष्य वर्ग में थे और भक्ति का स्वरूप इनके सम्प्रदाय में बहुत सूक्ष्मता से शोधा गया है।

(६) सूरदास—(ई० स० १५-१६वीं शताब्दी) तुलसीदास नें राम का चरित गाया, उसी तरह सूरदास ने कृष्ण-चरित गाया। तुलसीदास की भक्ति पर ज्ञान और वैराग्य की छाप थी, उसके स्थान पर सूरदास के पद केवल प्रेम-भक्ति से परि-पूर्ण हैं।

(७) नरसिंह महेता (ई० स० १५-१६वीं शताब्दी) इस समय में गुजरात भी भगवान् की कृपा के बिना न रहा था। गुजरात में भगवद्भक्त नरसिंह महेता का जीवन सुप्रसिद्ध है। जात-पांत के भेद की अवगणना करके इन्होंने प्रभु में कैसा चित्त लगाया था, प्रभु की कृपा से इनका सांसारिक व्यवहार कैसे अपने आप चला करता था और पुत्र-मरण-जैसे दुःख के

आने पर भी 'भलु' थयु' भागी जंजाल, सुखे भजीशु' श्रीगोपाल' इत्यादि उद्‌गारों को देखते हुए इनकी प्रभु में तन्मयता कैसी थी यह अच्छी तरह से जाना जाता है।

(८) मीराबाई—(ई० स० १६ वीं शताब्दी में) यह स्त्री भक्त कृष्ण-भक्ति से पागल है। शास्त्रकारों ने फरमान निकाला कि स्त्री का पति के सिवा कोई दूसरा देव नहीं। इसने अपनी आत्मा कृष्ण भगवान् को समर्पित कर दी थी। इसका प्रेम संसारी प्रेम से कैसा भिन्न था वह इस बात से समझ में आयगा कि जब मथुरा में यह चैतन्य संप्रदाय के आचार्य जीवा गोसाईं की वन्दना करने गई तब जीवा गोसाईं ने इसको स्त्री होने के कारण चरण स्पर्श करने की आज्ञा नहीं दी। तब मीरा ने कहा कि—"महाराज! मैं नहीं सोचती थी कि कृष्ण के सिवा कोई भी मनुष्य जगत् में पुरुष समझा जाता होगा।" इनका आत्मनिवेदन का आवेग—"अब तो मेरा राम नाम दूसरा न कोई" इत्यादि पदों में विद्यमान है।

(९) तुकाराम—(ई० स० १७वीं शताब्दी) दक्षिण में भागवत् धर्म का अभ्युत्थान भी इसी समय के धार्मिक इतिहास में खास ध्यान में रखने योग्य है। इस अभ्युत्थान ने महाराष्ट्र को जागृत किया और अद्भुत शक्ति दी। दरजी, छीपा, हज्जाम, अछूत तक ने भगवान् का साक्षात्कार किया। प्रभु के दरवाजे कोई ऊंच-नींच नहीं; जप, तप, योग, व्रत सब व्यर्थ है; केवल भक्ति ही परमात्मा को पाने का सच्चा साधन है। इस धर्म का प्रतिपादन नामदेव, एकनाथ वगैरा अनेक मराठा संत साधुओं के चरित्रों और उद्‌गारों में हुआ है। परन्तु उन सबमें तुकाराम के अभंग विशेष प्रसिद्ध हैं। शिवाजी ने इनको बुलाने के लिए हाथी, घोड़ा, पालकी वगैरा भेजीं। तुकाराम द्वारा दिया गया उस समय का उत्तर इस महान् साधु के हृदय का सच्चा निःस्पृही

और वैराग्यवान स्वरूप बतलाता है-"मेरे आने से क्या फायदा? सर्व धर्म का रहस्य इतना ही है कि पदार्थमात्र में सचराचर प्रभु व्याप्त है। उसको कभी अन्त:करण में से विस्मृत नहीं करना"। तुकाराम को स्त्री क्लेश करने वाली और झगड़ालू स्वभाव वाली मिली थी और गृह-संसार में ये बहुत दुखी थे; परन्तु इन सबका इन्होंने अच्छा अर्थ लगाकर कहा कि—"प्रभु! अच्छा ही हुआ कि ऐसा दु:ख मिला, जिससे मैं तुम्हारी भक्ति कर सका।"

नया युग

ब्रिटिश राज्य के शुरू होने के बाद अपने देश में जो नई शिक्षा आई उसके परिणामस्वरूप प्रचलित विचारों में बहुत परिवर्तन हुआ। इस नई शिक्षा में तीन अलग-अलग तत्व समाए हैं—एक तो पाश्चात्य धर्म ग्रन्थ—बाइबिल वगैरा; दूसरे पाश्चात्य साइन्स, साहित्य तथा धर्म और तत्वज्ञान के ग्रन्थ; और तीसरे अपने देश के प्राचीन धर्म और तत्व ज्ञान के ग्रन्थ। अधिकांश में यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि इस नई शिक्षा ने हिन्दुओं को इस विषय में अपने घर की समृद्धि का भान कराने में दीपक का काम किया है। उनके धार्मिक विचारों में इसने कुछ बिलकुल नई बात उत्पन्न की हो, ऐसा नहीं ज्ञात होता और इसलिए भाषायुग की तरह इस नये युग को भी हिन्दू धर्म का एक अभ्युत्थान का काल मानना चाहिए।

(१) इस नवीन युग में एक प्राचीन युग का पन्थ उत्पन्न हुआ है, उसको देखकर आगे चलें। इस पन्थ को, जो स्वामी नारायण पन्थ के नाम से प्रसिद्ध है, सहजानन्द स्वामी ने प्रवर्तित किया है। इसमें नारायण यानी विष्णुभगवान् को पुरुषोत्तम—परमात्मा माना गया है। परन्तु शिव की बिलकुल निन्दा नहीं

गई। बाद के समय में शैव और वैष्णव सम्प्रदाय में बहुत बिगाड़ हो गया था, उसको इस सम्प्रदाय ने दूर किया। इसमें रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत वेदान्त स्वीकृत किया गया है तथा भक्ति और वैराग्य को महत्व दिया गया है। हिंसा का भी इसमें सख्त निषेध किया गया है।

(२) ब्रह्म समाज—नई शिक्षा के प्रभाव से उत्पन्न हुए नये पन्थों में सर्वप्रथम ब्रह्म समाज है। इसके स्थापक राजा राम-मोहन राय संस्कृत, पाली, अरबी, अँग्रेजी, आदि बहुत-सी भाषाएं जानते थे और इसलिए बाइबिल, कुरान, उपनिषद् वगैरा के अच्छे अभ्यासी थे। इनके समय में बंगाल में ईसाई पादरियों के उपदेश ने बहुत खलबली उत्पन्न की थी और अँग्रेजी शिक्षा भी शुरू हुई थी। इसलिए इस नए समय का प्रति-निधि-स्वरूप इस महान् पुरुष को गिना जा सकता है। राजा राममोहनराय ने मूर्ति-पूजन का खण्डन, ईसा के उपदेश आदि सम्बन्धी कई लेख लिखे हैं। प्रचलित धर्म के स्थान में उपनिषद् में प्रतिपादित ब्रह्म के अनुभव का और उसके साधन स्वरूप सगुण ब्रह्म की उपासना और प्रार्थना का तथा मनुष्य बन्धु की सेवा करने का उपदेश किया है।

(३) प्रार्थना समाज—गुजरात और दक्षिण में ब्राह्म समाज के समान प्रार्थना समाज देखी जाती है। प्रार्थना समाज पंथी ब्राह्म धर्म के सब सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं, परन्तु जाति-पांति के भेद को वर्तमान काल में अभेद्य समझकर सहन करते हैं, परन्तु धीरे-धीरे तोड़ते जाते हैं। दक्षिण के प्रार्थना समाज वाले तुकाराम और एकनाथ वगैरा मराठी सन्त साधुओं के धर्म को अपनाते हैं और इस तरह वे कहते हैं कि ब्रह्म धर्म सब धर्मों का सामान्य तत्व है, तो भी अपने धर्म को खास 'हिन्दू भागवत् धर्म' का नाम देते हैं।

(४) आर्य समाज—यह नए समय का एक तीसरा सम्प्रदाय दयानन्द सरस्वती का स्थापित किया हुआ है। दयानन्द सरस्वती एक सगुण ईश्वर को ही मानते हैं और वेद में जिन-जिन देवताओं का नाम आता है वह एक ईश्वर का ही वाचक है—ऐसा कहते हैं। वेद की संहिता को ये ईश्वर कृत प्रमाण मानते हैं, परन्तु उसके अतिरिक्त भाग को और उसी तरह पुराण वगैरा ग्रन्थों को ये नहीं मानते। मूर्तिपूजा तथा उसी तरह हिन्दू समाज की असंख्य जातियों का ये बड़े जोर से खण्डन करते हैं। इनका कहना है कि चार वर्ण असल में गुण और कर्म के अनुसार बने थे—चार आश्रमों को ये स्वीकार करते हैं। उसमें ब्रह्मचर्य ठीक-ठीक पालने के लिए इनका बहुत आग्रह है। संध्या, होम वगैरा कर्मों को वेदोक्त रीति से करने का उपदेश देते हैं। गाय को पवित्र मानते हैं।

उद्धरण

ओ३म्—पहले यह एक ब्रह्म ही था, दूसरा कुछ भी न था उसने यह सब रचा।

यह नित्य ज्ञान—अनन्त, शिव, स्वतंत्र, निरवयव, एक अद्वितीय, सर्वव्यापी, सर्वनियन्ता, सर्वाश्रय, सर्वविद्, सर्वशक्ति, ध्रुव (नित्य स्थिर) पूर्ण और अप्रतिम है।

इस एक की ही उपासना से परलोक और इस लोक का कल्याण होता है।

उसमें प्रीति रखना और उसके प्रिय कार्य करना—यही उसकी उपासना है।

[ब्राह्म धर्म]

ईश्वर एक है। वह सृष्टि को उत्पन्न करने वाला, स्थिति में रखने वाला तथा संहार करने वाला है। सृष्टि पदार्थों से वह भिन्न है, उसके अलावा दूसरा कोई देव नहीं है। वह सर्वज्ञ

सर्वव्यापी है; सर्वशक्तिमान्, न्यायकर्ता, करुणामय और परम पवित्र है। वही ईश्वर पूज्य है।

भक्ति ही धर्म है।

सप्रेम श्रद्धा, उपासना, स्तुति, प्रार्थना और सदाचार ही भक्ति है।

भक्ति द्वारा ईश्वर प्रसन्न होता है और आत्मा का कल्याण होता है।

[प्रार्थना समाज के धर्म सिद्धान्त]

: २ :

जैन धर्म

तीर्थङ्कर

वैदिक, जैन और बौद्ध धर्म—एक ही हिन्दू धर्म की तीन शाखाएँ हैं। तीनों के मिलने से हिन्दुस्तान के प्राचीन धर्म का पूर्ण स्वरूप बनता है। उसमें से एक शाखा का निरूपण हो चुका, अब हम दूसरी शाखा जैन धर्म को लें।

प्राचीन हिन्दुस्तान में ऐसे अद्भुत महात्मा हुए हैं जिन्होंने अपने मन, वाणी और काया को पूर्णरूपेण जीत लिया था। उनको मान की दृष्टि से 'जिन' (जि—जीतना धातु से) नाम दिया जाता है और उनके धर्म के खास अनुयायी जैन कहलाते हैं। इन महात्माओं ने अपने जीवन और उपदेश से असंख्य जीवों को इस संसार से तार दिया है और इसलिए वे तीर्थङ्कर के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। 'तीर्थ' यानी घाट, किनारा।

नदी पार उतरने का स्थान—पवित्र स्थान जहां से इस संसार रूपी नदी से पार उतरा जा सकता है। जैन शासन (शास्त्र) संसार-रूपी नदी पार उतरने का घाट और उसको बाँधने वाले 'तीर्थङ्कर' कहलाते हैं।

जैन धर्म में २४ तीर्थङ्कर माने गए हैं। उनमें सबसे पहले हैं ऋषभदेव जी और अन्तिम महावीर स्वामी। ऋषभदेव अत्यन्त प्राचीन काल में हुए—ऐसा कहा जाता है। इनको ब्राह्मण भी विष्णु के चौबीस अवतारों में से एक मानते हैं और इनके अद्भुत वैराग्य की और परमहंस वृत्ति की बहुत प्रशंसा करते

हैं। यह आद्य तीर्थङ्कर नाभिराजा और मरुदेवी के पुत्र थे। जैन शास्त्रों का कथन है कि इनके समय में मनुष्य लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे। इतना ही नहीं, परन्तु राँधना, हजामत करना वगैरा सभ्य मनुष्यों के साधारण कर्म भी उनको करना नहीं आता था; बल्कि विवाह की संस्था भी उनमें जैसी चाहिए वैसी न थी। ऋषभदेव जी ने सिंहासन पर बैठने के बाद उनको लेखन, गणित, पाकशास्त्र वगैरा अनेक विद्याएँ सिखाईं और विवाह की संस्था कायम की। वृद्ध होने पर अपने पुत्रों में राज्य बाँट दिया। स्वयं तपश्चर्या में मग्न हो गए और आत्मा का स्वरूप पहचानकर परम ज्ञान की दशा में जा पहुँचे।

ऋषभदेव जी के बाद दूसरे इक्कीस तीर्थङ्कर भी बहुत प्राचीन काल में हो गए—ऐसा गिना जाता है। तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ काशी के अश्वसेन राजा के पुत्र थे। ३० वर्ष की उम्र में इन्होंने संसार को त्याग दिया और ध्याननिष्ठ हो गए। ८४ वें दिन इन्होंने ज्ञान प्राप्त किया। इनकी माता तथा स्त्री इनकी प्रथम शिष्याएँ हुईं। पार्श्वनाथजी ने ७० वर्ष तक जैन धर्म का उपदेश किया और उस धर्म का प्रचार किया। इनका समय ई० स० पूर्व ८१७ से ७१७ तक यानी श्री महावीर स्वामी के २५० वर्ष पहले गिना जाता है।

चौबीस तीर्थङ्करों के नाम—(१) श्री ऋषभदेव (२) अजितनाथ (३) संभवनाथ (४) अभिनन्दन स्वामी (५) सुमतिनाथ (६) पद्मप्रभ (७) सुपार्श्वनाथ (८) चन्द्रप्रभ (९) सुविधिनाथ (पुष्पदन्त) (१०) शीतलनाथ (११) श्रेयांसनाथ (१२) वासुपूज्य स्वामी (१३) विमलनाथ (१४) अनन्तनाथ (१५) धर्मनाथ (१६) शान्तिनाथ (१७) कुन्थुनाथ (१८) अरनाथ (१९) मल्लिनाथ (२०) मुनिसुव्रत स्वामी (२१) नमिनाथ (२२) नेमिनाथ (२३) पार्श्वनाथ (२४) महावीर स्वामी।

उद्धरण

(हे आदीश्वर भगवान् !) देवभी जिसकी बुद्धि (ज्ञान) के बोध (निर्मलता) को पजते हैं—ऐसे बुद्ध तुम्हीं हो। तीनों जीवन का शम् अर्थात् कल्याण करते हो; इसलिए शङ्कर भी तुम्हीं हो। कल्याण का मार्ग सर्जन करने के कारण स्रष्टा—ब्रह्मा भी तुम्हीं हो और हे भगवन् ! उत्तम पुरुष—पुरुषोत्तम (विष्णु) भी तुम्हीं हो।

[भक्तामर स्तोत्र]

महावीर स्वामी और उनके शिष्य

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर स्वामी का जन्म ई० स० पू० ५३९ (अथवा दूसरी गणना के अनुसार ५९९) में कुंडग्राम में हुआ था। इनके पिता 'नात' (ज्ञात, ज्ञातृ) नाम के क्षत्रिय कुल के शिरोमणि सिद्धार्थ थे और इनकी माता का नाम त्रिशला देवी था। ऐसा कहा जाता है कि ये देवानन्दा नाम की ब्राह्मणी के गर्भ में थे; वहां से त्रिशला क्षत्रियाणी के गर्भ में इनको लाया गया था। इसलिए ऐसा अनुमान होता है कि इनकी प्रकृति छुटपन से ही क्षत्रिय की अपेक्षा ब्राह्मण-जैसी अर्थात् शान्त, सुशील और राज्य भोगने वाली की अपेक्षा तपश्चर्या को अधिक पसन्द करने वाली होगी। जैन ग्रन्थों का कथन है कि इनके जन्म के पहले इनकी माता ने चौदह शुभ स्वप्नों को देखा था और तदनुसार एक शुभ मुहूर्त में जब आकाश स्वच्छ था, वायु मृदु और अनुकूल बह रही थी, खेत हरे शोभित हो रहे थे और प्राणिमात्र आनन्द में थे, महावीर स्वामी का जन्म हुआ। इनके जन्मते ही इनके पिता की सर्व समृद्धि—धन, धान्य, यश आदि बढ़ी, इसलिए पिता ने इनका नाम 'वर्धमान' रखा। परन्तु

जिस मनोबल से इन्होंने अपने आन्तरिक शत्रुओं (क्रोधादिक वृत्तियों) को जीता उसके स्मरण में जगत् इनको 'महावीर' के भव्य नाम से पुकारता है। जैसा कि ऊपर कहा, बचपन से ही इनकी वृत्ति वैराग्य वाली थी। परन्तु उसी के साथ यह कोमल भी ऐसी थी कि स्नेहालु माता-पिता की अवगणना करके, उनका मन दुःखाकर, एकदम यति (साधु) हो जाना इनको पसन्द नहीं आया। इसलिए इन्होंने विधिपूर्वक गृस्थाश्रम में प्रवेश किया; इन्होंने यशोदा नाम की एक कुलीन स्त्री के साथ विवाह किया। यशोदा के उदर से 'प्रियदर्शना' नाम की एक कन्या हुई।

माता-पिता की मृत्यु हो जाने के बाद तुरन्त ३० वर्ष की उम्र में बड़े भाई नन्दिवर्धन की अनुमति लेकर वे यति हो गए और तपश्चर्या और ध्यान के लिए बाहर निकल पड़े। दिगम्बर जैनों का कहना है कि पार्श्वनाथ के अनुयायी वस्त्र का संग नहीं छोड़ सकते थे। वह महावीर स्वामी को पसन्द नहीं आया और इसलिए उनको छोड़कर स्वयं 'दिगम्बर' (वस्त्ररहित) और 'पाणिपात्र' (हाथ की अंजुली में ही भिक्षा लेना) होकर पृथ्वी पर विचरण करने लगे। श्वेताम्बर जैनों का कहना है कि प्रथम तो यति होने के समय इन्द्र ने जो इनके कन्धे पर वस्त्र रखा था सिर्फ उसी अकेले वस्त्र को पहरकर ही रहते थे। परन्तु जब एक गरीब ब्राह्मण ने माँगा तो उसमें से आधा उसको दे दिया और जो आधा कांटों में फँस गया, उसकी इन्होंने परवाह नहीं की। परन्तु भूल में इन्होंने वस्त्र धारण किया था और पहली भिक्षा भी पात्र में ही ली थी, इसलिए वैसा करना ही उचित है। जैसा भी हो परन्तु इनका वैराग्य तीव्र था, इसमें कोई शङ्का नहीं। इन्होंने अनागार (बिना घर की) और निर्वसन (दिगम्बर या कई वक्त एकवस्त्री) स्थिति में ही मन, वचन और कार्य की गुप्ति पुरःसर (दोष से बचकर) अद्भुत तपश्चर्या (उपवासादिक)

करने में तथा ध्यान धरने में १२ वर्ष व्यतीत किये। १३ वें वर्ष, अर्थात् अपनी ४२-४३ वर्ष की उम्र में इनको वह ज्ञान उत्पन्न हुआ जिससे वे देव मनुष्य आदि प्रत्येक जीव की सारी स्थिति यथार्थ जान सकते थे। तत्पश्चात् इन्होंने ३० वर्ष धर्म का उपदेश किया। वर्तमान काल में जिसको विहार कहते हैं उसमें तथा बंगाल के कई भागों में महावीर स्वामी ने खूब विहार किया। उसमें छोटे गाँव में एक रात से और बड़े गाँव में पाँच-छः से अधिक नहीं रहना और चौमासे में बिलकुल नहीं चलना—ऐसा उनका नियम था। इसका कारण यह था कि किसी भी स्थान के साथ उनकी आसक्ति न हो जाय तथा चौमासे में जो असंख्य जन्तु उत्पन्न होते हैं उनके भी पाँव-तले दबने से हिंसा न हो। तीस वर्ष उपदेश करके महावीर स्वामी ने बहुत-से शिष्य बनाए तथा जैन धर्म को अच्छी तरह फैलाया।

दिन बीतने पर ७२ वर्ष की उम्र में ई० स० पू० ४६७ में महावीर स्वामी ने ('अपापा') नगरी में निर्वाण प्राप्त किया।

महावीर स्वामी के मुख्य ११ शिष्य थे। वे गणधर कहलाते हैं—गणधर यानी मुनियों का गण धारण करने वाला, अधिकारी। इन गणधरों में से ६ तो महावीर स्वामी के जीवन-काल में ही निर्वाण पा गए। बाद में दो रहे—एक गौतम इन्द्र-भूति और दूसरा सुधर्मा। सुधर्मा ने सूत्रकृताङ्ग (सूत्रकृदङ्ग) वगैरा अनेक ग्रन्थ रचे। उनमें महावीर स्वामी का उपदेश संचित है। इन्द्रभूति को गुरू पर अत्यन्त प्रेम था। उनकी गैर-हाजिरी में गुरू ने देह छोड़ी, इसलिए उनको बहुत ही शोक हुआ। परन्तु अन्त में उन्होंने समझा कि सब कर्म के नियम के अनुसार हुआ ही करता है; इसलिए शोक करना उचित नहीं है। इनके शिष्य और साधुवर्ग में इनकी एक निकट सम्बन्धिनी चन्दना नाम की स्त्री भी थी। वह साध्वियों में सर्वप्रथम थी और

इसलिए उसको साध्वियों के मंडल की देख-रेख सौंपी गई थी।

जैन धर्म का महामंडल संघ कहलाता है। संघ के चार विभाग हैं—(१) साधु (मुनि—यति—श्रमण) और (२) साध्वी (आर्या, अर्जिका) (३) श्रावक और (४) श्राविका। उनमें से पहले दो संसार छोड़कर वैराग्य और तप के तीव्र नियम पालते हैं और अन्तिम दो संसार में रहकर मुनियों का उपदेश सुनते हैं।

उद्धरण

(देवो—) जय, जय, हे आनन्दकारक ! जय, जय, हे मंगलमय ! तुम्हारा मङ्गल हो, अजेय इन्द्रियों को अपने अभग्न ज्ञान, दर्शन और चरित्र से जीतो; जीतकर श्रमण धर्म पालो। इस धर्म में आने वाले सारे विघ्नों को जीतकर सिद्धि के (श्रमण धर्म की सिद्धि) मध्य में वास करो; बाह्य और आभ्यन्तर तप से राग और द्वेपरूपी मल्ल को जीतो; धैर्यरूपी कमरबन्द कसकर (आठ) कर्मरूपी शत्रुओं का नाश करो; तथा उत्तम ध्यान द्वारा सावधान होकर इस त्रैलोक्यरूपी रंगभूमि (मल्ल के अखाड़े) में सिद्धि की विजयपताका फहराओ।

[कल्प सूत्र]

जैन धर्म के पन्थ

जैन धर्म के मुख्य दो पन्थ हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर अर्थात् श्वेत वस्त्र वाला और दिगम्बर अर्थात् दिशारूपी ही जिसके वस्त्र हैं, अर्थात् वस्त्र-जैसी चीज भी जो शरीर पर नहीं रखते। मूल में यह भेद साधुओं में पड़ा था और उसके बाद श्वेताम्बर साधुओं को मानने वाले श्वेताम्बर और दिगम्बर साधुओं को मानने वाले दिगम्बर—इस तरह श्रावकों में भी दो पन्थ हो गए हैं

यह पन्थ किस तरह पड़े, उसके सम्बन्ध में दो अलग-अलग कथाएं हैं—(१) दिगम्बरों की ऐसी कथा है कि ई० स० पू० करीब ३०० वर्ष के पहले मगध देश में एक भारी दुष्काल पड़ा था। तब श्री भद्रबाहु स्वामी वगैरा बहुत-से जैन यति देश छोड़कर दक्षिण में कर्णाटक वगैरा स्थानों में चले गए। जो पीछे रह गए वे श्वेत वस्त्र धारण करने लगे और स्थूलाभद्र स्वामी की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में जैनों का संघ भरकर जैन धर्म के शास्त्रों—ग्रंथों को निश्चित किया। दुष्काल पूरा होने पर कर्णाटक से जब वे जैन यति आए तब उन्होंने पीछे रहे यतिओं को वस्त्र पहने देखा। परिग्रह के विषय में उनका यह शिथिलाचार दिगम्बर यतियों ने नापसन्द किया तथा अपनी गैरहाजिरी में निश्चित किये गए शास्त्रों को भी इन सब ने स्वीकृत नहीं किया। (२) श्वेताम्बरों का ऐसा कहना है कि ई० स० बाद दूसरी शताब्दी में रथवीर नगर में शिवभूति नाम का एक राज्य कर्मचारी था। वह मां के साथ लड़कर आर्य-कृष्ण नाम के जैनसूरी के उपाश्रय में जाकर साधु हो गया। राजा ने उसको एक कीमती कम्बल (शाल) दिया था। उसका इसको बहुत मोह था। यति को ऐसी आसक्ति शोभा नहीं देती, इसलिए इसको सुधारने के लिए गुरू ने इसकी गैर-हाजिरी में उस कम्बल को फड़वा डाला। शिवभूति उपाश्रय में आकर इस तरह गुरू द्वारा अपनी आसक्ति के लिए स्वयं को दण्डित देखकर क्रोधित हुआ और उसी क्षण उसने शरीर पर के सारे वस्त्र फेंक दिए। परन्तु उसके पीछे उसकी बहन भी उसी तरह करने जा रही थी कि उसको इसने रोक दिया, तब से वस्त्ररहित यतियों का दिगम्बर पन्थ शुरू हुआ, तथा इस पन्थ में स्त्री को मोक्ष नहीं हो सकती—यह सिद्धान्त मान्य हो गया।

ऊपर की कथाओं में से चाहे जो सच्ची हो—परन्तु ब्राह्मण धर्म में जिस तरह शैव और वैष्णवों का झगड़ा चला उसी तरह जैन धर्म में श्वेताम्बर और दिगम्बरों का चला। यह बहुत शोक की बात है। अगर सचमुच देखा जाय तो दोनों को समझना चाहिए कि जैन धर्म का सच्चा तत्व अहिंसा और संयम—इन दो शब्दों में समाया हुआ है और ये सिद्धान्त दोनों पन्थ में मान्य हैं तब पारस्परिक झगड़े का कोई कारण ही नहीं रहता।

इसके अतिरिक्त आगे चलकर आज से क़रीब ३०० वर्ष पहले श्वेताम्बरों में से 'स्थानक वासी' नाम की एक जैनधर्मियों की शाखा निकली है, जो मूर्ति को नहीं पूजती।

जैन शास्त्र

श्री महावीर स्वामी ने स्वयं उपदेश ही किया है, ग्रन्थ नहीं रचे। परन्तु उनके गणधरों ने ग्रन्थों की रचना कर उनमें अपने गुरू के उपदेश को बहुत प्रेम और विनय से संगृहीत किया है।

जैन शासन के सबसे प्राचीन ग्रन्थ (१) पूर्व और (२) अंग के नाम से प्रसिद्ध हैं। पूर्व चौदह हैं और अंग बारह हैं। गणधरों ने अंग रचने के पहले पूर्व रचे इसलिए वे 'पूर्व' (पहले) कहलाए। उसके बाद उन्होंने बारह अंग रचे उनमें से अधिकांश सुधर्मा स्वामी के बनाये हुए हैं। इन बारह अंगों में एक 'दृष्टिवाद' नाम का अंग था; उसमें १४ पूर्व रखे गए थे। परन्तु यह अंग बहुत समय से लुप्त हो गया है। उसके साथ के पूर्व भी नष्ट होगए। सिर्फ दूसरी जगह इस अंग में तथा इसमें के पूर्वों में क्या-क्या था—इसकी सूचना-भर है। उस पर से मालूम पड़ता है कि महावीर स्वामी द्वारा भिन्न-भिन्न मत वालों के साथ किया

गया वादविवाद इसमें था। इसके अलावा, पूर्व में कितनी ही चमत्कार की विद्या भी थी, ऐसा कहा जाता है।

ऐसा कहा जाता है कि महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद तीन 'केवली' (पूर्ण ज्ञानवान्) आचार्य हुए—गौतम इन्द्रभूति, सुधर्मा और जम्बू स्वामी। उसके बाद पांच 'श्रुत केवली' (शास्त्र में पारङ्गत) हुए, उनको ११ अंग और १४ पूर्व कंठस्थ थे।

उनके बाद ग्यारह आचार्य 'दश-पूर्वधारी' और पांच 'एकादश अङ्गधारी' हुए। पूर्व तो लुप्त हो गए थे और अङ्गों की भी याद दिन-दिन कम होती गई। इसलिए ई० स० के बाद दूसरी शताब्दी में जैनशास्त्रों को पत्रारूढ़ किया (लिखा) गया, ऐसा दिगम्बर कहते हैं। श्वेताम्बर ऐसा मानते हैं कि ई० स० पू० ३०० वर्ष में पाटलिपुत्र के संघ में शास्त्र निश्चित हुए। और ये जब यतियों को भूलने लगे तथा विद्या के घटने से उनका नाश होने लगा तब ई० स० ५१३ में वलभीपुर में देवर्धिगणि क्षमा श्रमण नाम के एक महान् यति ने इन सबको लिखवाकर पुस्तक द्वारा पढ़ाने का रिवाज जारी किया।

(४) अङ्ग के बाद बारह उपाङ्ग आते हैं। एक को छोड़कर ये सब सुधर्मा स्वामी द्वारा प्रणीत कहे जाते हैं। उसके बाद 'मूल' और 'छेद' नाम के तथा कल्पसूत्र वगैरा अन्य कितने ही स्वतन्त्र ग्रन्थ और नियुक्तियां यानी टीकाएं हैं। इन पुस्तकों में से कुछ सुधर्मा ने, कुछ भद्रबाहु ने और कुछ उसके बाद के आचार्यों ने रची हैं। श्वेताम्बर सब धर्मग्रन्थों में कल्पसूत्र को सर्वश्रेष्ठ और पवित्र मानते हैं।

अधिकांश में इन अङ्ग-उपांग ग्रन्थों में तीर्थङ्करों के चरित्र, उपदेश, तत्वज्ञान का वादविवाद, यतियों के धर्म, गृहस्थ (श्रावक) के धर्म वगैरा विषय आते हैं।

रत्नत्रय

जैन धर्म में 'दर्शन', 'ज्ञान' और 'चारित्र'—इन तीन को रत्न नाम दिया गया है; और सचमुच ये तीन ऐसे बहुमूल्य पदार्थ हैं कि 'रत्न' नाम इनको उचित है।

'दर्शन' यानी 'सम्यग् दर्शन'—अर्थात् सच्चा सिद्धान्त देखना, मानना अर्थात् सच्चे सिद्धान्त में ही श्रद्धा रखना। वह सच्चा सिद्धान्त है तीर्थङ्कर भगवान् द्वारा उपदिष्ट जैन धर्म। इस 'दर्शन' यानी श्रद्धा को 'सम्यक्त्व' (अच्छाई) भी कहते हैं।

'ज्ञान' यानी ऐसा तत्वज्ञान जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझ में आवे। इसको प्राप्त करने के लिए जैन धर्म के अङ्ग-उपांग वगैरा शास्त्रों का अध्ययन करने की ज़रूरत है। ज्ञान पांच प्रकार का है; उसमें शास्त्र के ज्ञान को श्रुत ज्ञान कहते हैं। सर्वोत्तम प्रकार का ज्ञान केवल ज्ञान कहलाता है। ब्राह्मण धर्म में जैसे 'आर्ष' ज्ञान (ऋषियों का ज्ञान) यानी 'त्रिकाल' ज्ञान (भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल का ज्ञान) माना जाता है वैसे जैन धर्म में 'केवल' ज्ञान। 'केवल' ज्ञानी संसार से मुक्त हो जाता है। वह तीर्थङ्करों को और बहुत-से बड़े मुनियों को होता है।

'चारित्र' यानी भला व्यवहार। चारित्र के बिना 'दर्शन' और 'ज्ञान' व्यर्थ है। बल्कि यों कहिए कि उत्तम ज्ञान चारित्र के बिना उत्पन्न ही नहीं होता।

वह चारित्र कैसा होना चाहिए—इस सम्बन्ध में जैन धर्म शास्त्रों में खूब निरूपण किया गया है। उसमें चारित्र के कुछ नियम यतियों के लिए हैं और कुछ गृहस्थ (श्रावक) के लिए हैं। दोनों बहुत-कुछ एक ही तरह के हैं। परन्तु उसमें गृहस्थ की अपेक्षा यतियों का धर्म अधिक कठिन है। इस विषय में आगे कहा जायगा।

'दर्शन' 'ज्ञान' और 'चारित्र' का पारस्परिक सम्बन्ध ऐसा है कि दर्शन (श्रद्धा) से ज्ञान (शास्त्र ज्ञान) और ज्ञान से चारित्र उत्पन्न होता है। चारित्र ज्ञान बिना संभव ही नहीं और ज्ञान दर्शन (श्रद्धा) के विना संभव नहीं। परन्तु सिर्फ दर्शन या ज्ञान ही काफी नहीं है। दर्शन द्वारा यानी शास्त्र में श्रद्धा रखकर शास्त्र पढ़ना चाहिए और शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार चारित्र का पालन करना चाहिए।

उद्धरण

सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र—ये (तीनों मिलकर) मोक्ष मार्ग हैं।

[उमा स्वाति—तत्वार्थाधिगम सूत्र]

जिसके दर्शन (श्रद्धा) नहीं उसको ज्ञान नहीं होता। जिसको ज्ञान नहीं हुआ उसमें चारित्र गुण नहीं आता। जिसमें यह गुण नहीं उसको (कर्म से) मोक्ष प्राप्त नहीं होता। और जिसको मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ उसको निर्वाण (मोक्ष से उत्पन्न होनेवाला शान्ति का आनन्द) नहीं मिलता।

[उत्तराध्ययन]

ज्ञान द्वारा पदार्थों को जानता है; दर्शन द्वारा मानता है, (उसमें श्रद्धा रखता है) चारित्र द्वारा ग्रहण करता है (कर्म खपाकर मुक्ति पाता है) और तप द्वारा परिशुद्ध (सब प्रकार से संपूर्ण शुद्ध) होता है। [उत्तराध्ययन]

व्रत—समिति—गुप्ति—भावना

दर्शन और ज्ञान का फल चारित्र के अंगस्वरूप मुख्य (१) पांच व्रत (२) पाँच समिति (३) तीन गुप्ति और (४) चार भावना समझने योग्य हैं।

पाँच व्रत नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) अहिंसाव्रत—हिंसा (प्राणातिपात) नहीं करना; स्थूल, सूक्ष्म, चर-अचर, किसी भी जीव की मन, वाणी या काया द्वारा कभी भी हिंसा नहीं करना, न कराना, कोई करता हो तो उसका अनुमोदन नहीं करना।

(२) सूनृत (सत्य) व्रत—असत्य (मृषावाद) नहीं बोलना; मन, वाणी या काया द्वारा, क्रोध, लोभ, या भय से अथवा मज़ाक़ में कभी भी झूठ नहीं बोलना, न बुलाना न उसका अनुमोदन करना।

(३) अस्तेय व्रत—चोरी (अदत्ता दान) नहीं करना: मन, वचन या काया से छोटा-बड़ा, थोड़ा-बहुत—कुछ भी किसी का बग़ैर दिया नहीं लेना, न लिवाना, न लेने में अनुमोदन करना।

(४) ब्रह्मचर्य व्रत—ब्रह्मचर्य पालना; मन, वाणी या काया द्वारा किसी भी तरह से ब्रह्मचर्य नहीं तोड़ना, न तुड़ाना और न तोड़ने में अनुमोदन करना।

(५) अपरिग्रह व्रत—परिग्रह न करना अर्थात् वस्तुएँ नहीं रखना न रखाना और न रखने में अनुमोदन करना।

उपर्युक्त पाँच व्रत यतियों (साधुओं को कठिन रूप से पालना है तथा गृहस्थों को अपने आश्रम को न्यून मात्रा में पालना है जैसे कि अपनी स्त्री पर ही प्रेम रखना—यह गृहस्थ का चौथा व्रत है और अतिशय लोभ कर धन वगैरा का बहुत जंजाल नहीं फैलाना, उसमें मर्यादा रखना, निःसंग रहना—यह पाँचवाँ व्रत है। गृहस्थ के व्रत 'अणुव्रत' (छोटे व्रत-नियम) कहलाते हैं और यतियों के यही व्रत 'महाव्रत' (बड़े व्रत-नियम) कहलाते हैं।

समिति का अर्थ है—सदाचार। भला व्यवहार। पाँच समिति निम्नलिखित हैं—

(१) ईर्या समिति—जीव-जन्तु कहीं पग-तले न कुचल जायं इसलिए रात में नहीं चलना; आम रास्ते पर जहाँ आदमी आते-जाते हों और जहाँ जीव-जन्तु थोड़े होने की संभावना हो वहाँ दिन में परन्तु इस तरह संभलकर चलना कि जीव-जन्तु पैर के नीचे न कुचल जायं।

(२) भाषा समिति—कोमल, हितकारी, मीठे और धर्म्य (सत्य और न्याय के अनुकूल) वचन बोलना। असत्य या क्रोध अभिमान, कपट वगैरा दोषों से भरे वचन नहीं बोलना।

(३) एषणा समिति—एषणा का अर्थ है माँगना, उसके अन्तर्गत साफ करना और खाना तीनों आते हैं। यति को इस तरह एषणा करना (भिक्षा माँगना) चाहिए कि जिसमें किसी भी प्रकार का दोष न हो।

(४) आदान निक्षेपणा समिति—आदान यानी लेना और 'निक्षेपण' यानी रखना। इसलिए आदान निक्षेपणा समिति का अर्थ हुआ ठीक तरह से रखना-उठाना। वस्त्रादि चीजों को इस प्रकार रखना कि जिसमें किसी भी तरह का दोष न लगे।

(५) परि (प्रति) ष्ठापना समिति—'परि (प्रति) ष्ठापना'—यानी छोड़ना कफ, मूत्रादिक शरीर का मैला ऐसी जगह और इस तरह छोड़ना कि जिसमें किसी भी तरह का पाप न लगे।

गुप्ति यानी गोपन करना, रक्षण करना। आत्मा में विषय के साथ सम्बन्ध होने से अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए मन, वाणी और काया को इस तरह रखना कि उनके द्वारा किसी भी तरह का दोष न होने पावे। गुप्ति तीन प्रकार की हैं—(१) मनो गुप्ति, (२) वाग् गुप्ति और (३) काय गुप्ति अर्थात् मन की रक्षा करना, वाणी की रक्षा करना और शरीर की (शरीर की

क्रिया की) रक्षा करना। मन में हिंसा, कपट वगैरा का चिंतन नहीं करना; झूठे या क्रोध-भरे वचन नहीं बोलना, चोरी नहीं करना या मारने नहीं दौड़ना—वगैरा गुप्ति के उदाहरण हैं।

'भावना' का अर्थ है भाव लाना। मन में हमेशा चार प्रकार के भाव लाया करना।

(१) मैत्री—प्राणीमात्र में मित्र-भाव रखना, सबका अपराध क्षमा करना और किसी से वैर नहीं करना।

(२) प्रमोद—अपने से जो बड़ा (उन्नत) हो उसके साथ विनय से बर्ताव करना—अर्थात् उसकी स्तुति, वन्दना और सेवा करके आनन्द पाना।

(३) कारुण्य—करुणा, दया; दीन और दुःखी जीवों को उपदेश वगैरा से सुख पहुंचाना।

(४) माध्यस्थ्य—उपेक्षा करना; जो बिलकुल जड़ हो, उपदेश ग्रहण न कर सके उसके प्रति (क्रोध वगैरा लाये बिना) उपेक्षा करना।

पाँच व्रत पर सारा चारित्र का आधार होने से उनको 'मूल गुण' कहते हैं।

पाँच समिति और तीन गुप्ति 'उत्तर गुण' कहलाती हैं।

पाँच व्रत, तीन गुप्ति और चार भावना-सम्बन्धी वचन वेद धर्म में भी हैं। योग शास्त्र में भावना का, महाभारत के शान्ति-पर्व में गुप्ति का और मनुस्मृति वगैरा में पाँच व्रत का उल्लेख है।

उद्धरण

महावीर स्वामी का प्रथम उपदेश—"अहो! यह अपार समुद्र-जैसा संसार बहुत दारुण है—कर्म उसका कारण है ठीक उसी तरह जैसे बीज वृक्ष का कारण है।"

अज्ञानी जीव अपने ही कर्म से नीचे और नीचे जाता है जैसे कुँआ खोदने वाला नीचे उतरता जाता है।

और जो जीव शुद्ध अन्तःकरण वाला है वह अपने ही कर्म से ऊँचे-ऊँचे जाता है जिस प्रकार महल बनाने वाला ऊँचे चढ़ता जाता है।

प्राणातिपात (हिंसा) नहीं करना—क्योंकि इससे कर्म का बन्धन होता है। अपने प्राण की तरह दूसरे के प्राण का रक्षण करने के लिए तैयार रहना।

झूठ नहीं बोलना; सत्य और प्रिय बोलना जैसे मानो अपनी पीड़ा हरण करता है वैसे ही दूसरे की पीड़ा दूर करना (कड़ा शब्द नहीं कहना।)

किसीका बिना दिया धन नहीं लेना, क्योंकि धन मनुष्य का बाह्य प्राण समान है और इसलिए धन-हरण करना वध करने के बराबर है।

ब्रह्मचर्य पालना—उस पर मोक्ष का आधार है।

परिग्रह नहीं करना—अर्थात् बहुत-सी चीजें अपने आस-पास नहीं जमा करना। बहुत बोझ से बेचारा बैल नीचे गिर पड़ता है।

ये प्राणातिपात (हिंसा) वगैरा दोष अगर सूक्ष्म रूप में न छोड़े जा सकें तो स्थूल रूप में तो छोड़ना ही और सूक्ष्म रूप से भी इनको छोड़ने के लिए मन लगाना।

[हेमचन्द्र—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र]

समिति और गुप्ति मिलकर आठ प्रवचन माताएँ (माता के समान प्रेम से रक्षण करने वाले शास्त्र यानी धर्मोपदेश) हैं। उसमें समिति पांच और गुप्ति तीन कही हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान (निक्षेप) और उच्चार (मल त्याग) ये (इन सम्बन्धी)

पांच समितियां हैं और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति— ये तीन गुप्तियां हैं, इस प्रकार आठ हुईं।

[उत्तराध्ययन]

(१) मैत्री (२) प्रमोद (३) कारुण्य और (४) माध्यस्थ्य क्रमशः सत्त्व (प्राणिमात्र) गुणाधिक, क्लिश्यमान (दुःखी) और अविनेय (जो उपदेश न ग्रहण कर सके) में करना।

[तत्वार्थाधिगम]

आस्रव और संवर

जैन धर्म में नौ तत्व माने गए हैं—(१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आस्रव (६) बन्ध (७) संवर (८) निर्जरा और (९) मोक्ष।

इसमें 'आस्रव', 'संवर' और 'निर्जरा' इन तीन को छोड़कर शेष का अर्थ स्पष्ट है। निर्जरा का मतलब है उत्पन्न हुए कर्म का तप वगैरा साधनों द्वारा निर्जरण करना, जीर्ण कर डालना— ऐसा उपाय करना जिससे कर्म घिस जायं, क्षय हो जायं।

'आस्रव' और 'संवर', इन दो शब्दों में सकल जैन शासन समाया हुआ है। एक जैन विद्वान के कथनानुसार "आस्रव संसार (बन्ध) का कारण है और संवर मोक्ष का कारण है। मुट्ठी में सारा आर्हत (जैन) सिद्धान्त मांगो तो वह इतना ही है। दूसरा सब इसका ही विस्तार है।"

आस्रव—आत्मा की ओर कर्मों का वहना आस्रव है (आ + स्रु वहना धातु से) जिस तरह गांव का मैला पानी नाले में होकर तालाब में वहता है और तालाब को मलिन करता है उसी तरह इस संसार के विषय इन्द्रिय-रूपी द्वार में से आत्मा में प्रवेश करते हैं और आत्मा को विगाड़ते हैं। एक दूसरा

दृष्टांत यह दिया जाता है कि जिस तरह गीले वस्त्र पर जो कुछ धूल आकर पड़ती है वह उससे चिपक जाती है उसी तरह क्रोध अभिमान वगैरा दुष्ट वृत्तियों से आक्रान्त आत्मा से इस संसार के कर्म चिपट जाते हैं। इन दुष्ट वृत्तियों को कषाय (कषनेवाली, हनन करनेवाली, आत्मा को मलिन करनेवाली वृत्तियां) कहते हैं। कषाय चार हैं—क्रोध, (अभि-)-मान, माया (कपट) और लोभ।

संवर—जो आस्रव को भली भाँति रोके वह संवर है या जो आस्रव (बहने का द्वार) बन्द करे वह संवर है (सं+वृ रोकना या बन्द करना) इसमें ऊपर कही गई तीन गुप्ति और पांच समिति का समावेश होता है।

उद्धरण

जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नौ तत्व हैं।

[उत्तराध्ययन]

शरीर, वाणी और मन का कर्म 'योग' है; वही आस्रव है। शुभ योग पुण्य का आस्रव है, अशुभ पाप का।

दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन (रोना), वध, परिदेवन (हाय-हाय करना)—ये स्वयं में, अन्य में या उभय में किये जायँ तो वे अशुभ (पाप) का आस्रव बनते हैं। सर्वभूत (प्राणी) मात्र में अनुकंपा (दया), दान, सराग संयमादि योग (रागपूर्वक अर्थात् सकाम[1] रीति से संयम करना) क्षमा और शौच (पवित्रता)—ये शुभ (पुण्य) का आस्रव बनते हैं।

इन दोनों का निरोध संवर है।

यह (संवर) गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, (विषय अनित्य

---

१. निष्काम संयम आस्रव नहीं है।

है इत्यादि तत्व चिन्ता) परीषह जय (दुःख सहन करना) और चारित्र से होता है।

तप द्वारा संवर और निर्जरा (कर्म का क्षय) होता है। अच्छी तरह (काय, वाक् और मन के कर्मरूपी) योग का निग्रह करना (वश में करना) गुप्ति है।

ईर्या (चलना), भाषा (बोलना), एषणा (मांगना), आदान निक्षेप (उठाना धरना), और उत्सर्ग (फेंक देना)—इस तरह (पंच-विषयक) समिति (सदाचार) है।

[तत्वार्थाधिगम सूत्र]

यति धर्म

जैन धर्म में वैराग्य का बड़ा स्थान होने से यतियों के धर्म का अधिक निरूपण किया गया है। परन्तु जो यतियों का धर्म है वही यथाशक्ति गृहस्थों को भी पालना चाहिए इसलिए नीचे बताया गया यति धर्म सबके लिए उपयोगी है।

दस यति धर्म ये हैं—

(१) क्षान्ति—क्षमा, किसी पर क्रोध न करना।

(२) मार्दव—मृदुता, कोमलता, किसीके साथ अभिमान यानी अकड़-भरा बर्ताव न करना।

(३) आर्जव—ऋजुता, सीधापन, निष्कपटता।

(४) मुक्ति—छूटा हाथ होना, लोभ न करना।

(५) तप (त्याग)—तपश्चर्या, इच्छाओं को मारना।

(६) संयम—इन्द्रियादिक का निग्रह करना, वश में करना।

(७) सत्य—सच बोलना।

(८) शौच—पवित्रता[1]।
(९) अकिंचनता—किसी भी चीज को पास नहीं रखना; परिग्रह का, ममता का, त्याग।
(१०) ब्रह्म—ब्रह्मचर्य।

गृहस्थ धर्म

ऊपर कहे अनुसार जो यतियों का धर्म है वही थोड़ा-बहुत रद्दोबदल के साथ गृहस्थ का धर्म है। पांच व्रत, समिति वगैरा में से नीचे लिखे अनुसार बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म बताया गया है—

पांच 'अणुव्रत'—ऊपर जो पांच महाव्रत गिनाये गए हैं उन्हीं को गृहस्थ जब यथाशक्ति पालते हैं, तब अणुव्रत कहलाते हैं (अणु यानी छोटा, गृहस्थ के लायक, जो कठिन न हो।)

तीन 'गुणव्रत'—ऊपर के अणुव्रत 'मूलव्रत' हैं, उनकी मदद में तीन 'गुणव्रत' यानी सहायक व्रत हैं।

(१) 'दिग्व्रत'—'इतना चलूँगा' इस तरह अपने घूमने-फिरने की तथा मुसाफिरी करने की मर्यादा करना। इसका कारण यह है कि घूमने-फिरने से जो जीवहिंसा होती है वह कम हो जाती है।

(२) 'भोगोपभोग नियम व्रत'—भोजनादिक—जो एक बार भोगते ही खत्म हो जाते हैं—पदार्थों का भोग तथा वस्त्रादिक—जो बारम्बार इस्तेमाल किए जाते हैं—पदार्थों का 'उपभोग'; इस

---

1. सब जीवों के प्रति सुखानुकूल बर्ताव करना या बिना दिया नहीं लेना—इस तरह अहिंसा और अस्तेय 'शौच' का अर्थ किया जाता है। परन्तु हमने पवित्रता अर्थ अधिक प्रसिद्ध होने से पसन्द किया है।

बाबत कुछ नियम रखना। इसका कारण इन्द्रिय, मन वगैरा को वश में करने का है।

(३) अनर्थदण्ड निषेध व्रत—कोई भी निरर्थक क्रिया नहीं करना, इसका उद्देश मनुष्य की सारी प्रवृत्ति को धर्म की ओर—उत्तम पुरुषार्थ की ओर—मोड़ना है।

इनके अलावा चार शिक्षाव्रत हैं—

(१) 'सामायिक व्रत'—राजद्वेषरहित होकर, सब जीवों पर समता भाव ग्रहण कर, दो घड़ी एकान्त में तत्व चिन्तन करना 'सामायिक व्रत' है—सामायिक यानी समता प्राप्ति सम्बन्धी।

(२) 'देशाव काशिक व्रत'—ऊपर जो दिग्व्रत कहा उसमें और अधिक संकोच करना।

(३) 'प्रोषध (पोसह)[१] व्रत'—अमुक-अमुक दिन साधु की वृत्ति से रहना, गृहस्थ धीरे-धीरे यतिधर्म के योग्य बनता जाय। यदि श्रावक यतिधर्म पूरा-पूरा अंगीकार न कर सके तो कम-से-कम थोड़ा-सा भी इसका लाभ लेवे—उसके लिए यह प्रबन्ध है।

(४) 'अतिथि संविभाग'—अतिथि को—खासकर मुनियों को—आहार दिये बिना भोजन नहीं करना।

इन बारह धर्मों का आधार 'सम्यक्त्व' ('समकित') यानी अच्छी श्रद्धा पर अवलम्बित है।

सामायिक और प्रतिक्रमण

मन इन्द्रियां वगैरा—मनुष्य को संसार में डालनेवाली और उल्टे मार्ग पर ले जाने वाली शक्तियों को जीतने के लिए जैन-धर्म में कितनी ही क्रियाएं बताई गई हैं। ये अवश्य करने

---

१ पोसह का सही संस्कृत रूप 'उपवसथ'—उपवास है और अर्थ भी यही है।

योग्य हैं, इसलिए इनको आवश्यक कहते हैं। इन आवश्यकों में तीर्थंकर प्रभु की स्तुति वन्दना वगैरा के उपरान्त (१) सामायिक और (२) प्रतिक्रमण नाम के दो आवश्यक हैं जो खासकर जानने योग्य हैं।

सामायिक—मन की समता प्राप्त करना, इस संसार में सब चीजें अपने मन-माफिक कहाँ से मिल सकती हैं? ठंड है तो धूप है, सर्दी है तो गर्मी है, बाग-बगीचा हैं तो कांटे-कंकड़ भी हैं—संक्षेप में सुख भी होता है और दुःख भी होता है। इसलिए सुख-दुःख में मन को डांवाडोल न होने देते हुए समता में यानी एक-सा रखना; भला-बुरा, प्रिय-अप्रिय न लगने देना अर्थात् रागद्वेष न होने देना; और प्राणिमात्र पर एक-सा भाव रखना। इसके लिए प्रत्येक जैन को हमेशा दो घड़ी चित्त को स्थिर रखकर ज्ञान का पाठ ('सज्झाय'—स्वाध्याय) और ध्यान करने की आज्ञा है। इसको सामायिक यानी समता सिखाने की विधि कहते हैं।

उसी तरह एक दूसरा आवश्यक प्रतिक्रमण है। 'प्रतिक्रमण' अशुभ यानी पाप से मुड़कर शुभ की ओर चलना। मनुष्य दिन-रात में जाने-अनजाने कुछ-न-कुछ पाप किये बिना नहीं रहता। परन्तु यदि वह शाम-सवेरे अपने पाप का विचार कर, जो हो गया उसके लिए पश्चात्ताप कर भविष्य में वैसा न करने का निश्चय करे तो इससे उसका जीवन बहुत-कुछ सुधरेगा। उसके लिए जैन शास्त्रकारों ने यह 'प्रतिक्रमण' नाम की, पाप कबूल कर पुण्य-पथ पर चलाने की विधि बनाई है। रात और दिन के इस प्रकार दो प्रतिक्रमण हैं। रात का प्रतिक्रमण सवेरे और दिन का प्रतिक्रमण शाम को करना होता है।

यात्रा और व्रत

प्रत्येक धर्म में कितने ही स्थान और कितने ही काल पवित्र माने जाते हैं और इसलिए उन स्थानों की यात्रा करने की और उस-उस काल में अमुक-अमुक व्रत उपवासादि करने की आज्ञा होती है। उसी के अनुसार जैन धर्म में भी कितने ही यात्रा के स्थान तथा व्रत-उपवास करने के दिन ठहराये गए हैं।

शत्रुञ्जय पर्वत पर आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेवजी ने, चम्पापुरी में वासुपूज्य जी ने, गिरिनार पर नेमिनाथ जी ने, पावापुरी में महावीर स्वामी ने और बाकी के बीस तीर्थङ्करों ने समेतशिखर (बंगाल में) पर निर्वाण प्राप्त किया—इसलिए ये पांच स्थान बहुत पवित्र माने जाते हैं।

पोसह यानी 'प्रोषध-व्रत' महीने में पांच बार—शुक्ला पंचमी और दो चौदस को—करना होता है। इसमें गृहस्थ को आहार, शरीर सत्कार (साज-शृंगार करना) अब्रह्मचर्य (स्त्री संग) और व्यापार—इन चार चीजों को छोड़ने को कहा है। जैन धर्म का दूसरा बड़ा व्रत पचुसण ('पज्जुसण'—'पर्युषण') है। यह श्वेताम्बर मत के अनुसार श्रावण सुदी बारस से भादों वदी चौथ तक—आठ दिन करना होता है। श्वेताम्बरों की एक शाखा स्थानकवासी तेरस से पंचमी तक करती है और दिगम्बर भादों सुदी पंचमी से चौदस तक—दस दिन करते हैं। उस समय उपवास और शास्त्र-श्रवण किया जाता है।

पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी

पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर का केशी नाम का एक शिष्य अपने शिष्यों को लेकर घूमते-घूमते श्रावस्ती नगरी में आया और उसने गांव के बाहर एक वन में वास किया। इतने में श्री महावीर

सचेल धर्म प्रतिपादित किया है दूसरे ने अचेल धर्म का उपदेश स्वामी का शिष्य गौतम जो विद्या और चरित्र दोनों में श्रेष्ठ था उसी गांव में आ पहुँचा और पास के दूसरे वन में उतरा। एक दूसरे के साथ बातचीत करते-करते दोनों के शिष्यों को विचार आया कि अपने दोनों के गुरुओं में से किसके गुरु का उपदेश सच्चा है ? पार्श्वनाथ द्वारा किया गया चार व्रत का उपदेश सच्चा है या महावीर स्वामी द्वारा किया गया पांच व्रत का उपदेश सच्चा है ? दूसरे वर्धमान स्वामी द्वारा उपदिष्ट वस्त्र न पहनने का अचेल धर्म[1] सच्चा है या पार्श्वनाथ का एक अन्दर और एक बाहर (उत्तरीय) वस्त्र धारण करने का सचेल धर्म सच्चा है ? केशी और गौतम दोनों ने अपने शिष्यों की शंका समझी और एक-दूसरे से मिलने का निश्चय किया। गौतम ने विचार किया कि केशी पूर्व के तीर्थङ्कर का शिष्य होने से कुल में ज्येष्ठ गिना जाता है इसलिए मुझे उसके पास जाना चाहिए। इसलिए वह केशी के पास जाने को निकला। केशी ने विचार किया कि गौतम मेरी अपेक्षा वय में अधिक[2] है इसलिए मुझे उसके पास जाना चाहिए, ऐसा विचार कर वह भी मिलने चला। दोनों एक-दूसरे से प्रेम से मिले। केशी ने गौतम से पूछा— "भगवन्! पार्श्वनाथ चार व्रत मानते हैं और वर्धमान स्वामी

१. श्वेताम्बर पन्थ के टीकाकार इसका अर्थ अमुक प्रमाण के ही, श्वेत (जो रंगीन न हों) जीर्ण-जैसे और अल्प मूल्य के ही वस्त्र पहनना —ऐसा करते हैं।

२. मूल में 'कुमार श्रवण' 'केशी'—ये शब्द हैं। परन्तु इसका यह भावार्थ स्पष्ट है। गौतम आगे चलकर केशी को 'भगवन्' कहता है, इसलिए कुछ लोगों ने ऐसी कल्पना की है कि केशी बड़ा होना चाहिए। परन्तु ऐसा अर्थ करने से परस्पर विनय की खूबी, जो ग्रंथकार बतलाना चाहता है, नष्ट हो जाती है।

पांच। एक ही धर्म का उपदेश करने का दोनों का उद्देश्य होते हुए भी दोनों के बीच में यह अन्तर क्यों? आपको इस विषय में शंका नहीं होती?"

गौतम ने उत्तर दिया—"भगवन्! पहले तीर्थङ्कर के साधु ऋजु (सीधा, सरल) परन्तु जड़ थे। बीच के तीर्थङ्करों के शिष्य ऋजु तथा बुद्धिमान थे; अन्तिम तीर्थङ्कर के शिष्यों का कुटिल और जड़ होना संभव है। इस कारण से बीच के बाईस तीथङ्करों के साधुओं को चार व्रतों का उपदेश किया गया है तो भी वे यह समझते थे कि इन चार व्रतों में पांचों व्रत समा जाते हैं और उसी के अनुसार उनका आचार था: परन्तु पहले तीर्थङ्कर के साधुओं से अपनी जड़ता के कारण इसमें भूल होने की संभावना थी और अन्तिम तीर्थङ्कर के साधुओं के लिए तो उनके कुटिल तथैव जड़—दोनों दोषवाला होने के कारण स्पष्ट उपदेश की बहुत ही जरूरत है, इस कारण से इन दो—प्रथम और अन्तिम—तीर्थङ्करों ने पांच व्रत का उपदेश किया है और बीच के तीर्थङ्करों ने चार में पांच समाविष्ट कर चार ही व्रत का किया है।

केशी यह उत्तर सुनकर बोला—"गौतम! सचमुच तुम ज्ञानी हो। मेरे संशय को दूर किया। परन्तु मुझे अभी एक दूसरा संशय है उसको दूर करो।" ऐसा कहकर उसने सचेल और अचेल धर्म-सम्बन्धी उपर्युक्त प्रश्न पूछा। इसके उत्तर में गौतम ने नीचे लिखे अनुसार कहा—"प्रत्येक तीर्थङ्कर ने ज्ञान प्राप्त कर अपने-अपने शिष्यों के गुण और स्वभाव का विचार कर उपदेश किया है। पार्श्वनाथ के शिष्य ऋजु (सीधे) और बुद्धिमान होने के कारण उनको वस्त्र कोई बाधा देते, ऐसी संभावना न थी, परन्तु महावीर स्वामी के शिष्य कुटिल और जड़ होने से इनको वस्त्र का मोह लग जाने का विशेष भय था, इसलिए एक ने

किया है। यति के वेश का निर्देश मात्र लोक में उनको पहचानने के लिए तथा अनाचार सेवन करने में उन्हें जरा हिचकिचाहट हो इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से किया गया है। वैसे वस्तुत: ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही मोक्ष का साधन है, ऐसा तीर्थङ्करों ने निर्णय किया है।"

इस प्रकार पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के उपदेश के बीच के भेद का खुलासा हो गया। बाद में जैन धर्म के कितने ही सामान्य सिद्धान्तों के विषय में केशी ने गौतम से प्रश्न पूछे—उसका गौतम ने उत्तर दिया। उसमें एक मुख्य प्रश्न यह था कि "हे गौतम! हजारों शत्रु तुम्हारे ऊपर आक्रमण कर रहे हैं, उन पर तुम कैसे विजय पाते हो?" इसके उत्तर में गौतम ने कहा —"एक को जीतने से पाँच को जीतता हूँ; पाँच को जीतने से दस को जीतता हूँ और दस को जीतने से सबको जीतता हूँ।" बाद में इसके खुलासा में बतलाया कि "अगर आत्मा को नहीं जीता तो हमने एक बहुत बड़े शत्रु को छोड़ दिया। इस आत्मा को जीतने से दूसरे चार शत्रु—क्रोध, मान (अभिमान), माया (कपट) और लोभ—ये चार कषाय भी (आत्मा को हनन करने वाले मलिन भाव) जीत लिये जाते हैं। इन पाँच को जीता तो फिर दूसरी पाँच इन्द्रियों को मिलाकर दसों शत्रुओं को जीत लिया और इन दस को जीता तो समझ लो सबको जीत लिया।"

महावीर स्वामी और गोशाल

(भावी और पराक्रम)

कुंड कोलिय नाम का एक महावीर स्वामी का उपासक था। वह एक बार दुपहर में एक अशोक वृक्ष की छाया में बैठा था। वहाँ एक देव ने आकर उससे कहा—"हे भाई कुंडकोलिय,

मंखलीपुत्र गोशाल का ऐसा सिद्धान्त है कि उद्योग[1], कर्म बल, वीर्य या जिसको पुरुषार्थ या पराक्रम कहते हैं, ऐसा कुछ भी नहीं है; सब पदार्थ नियति यानी भावी से निश्चित हो चुके हैं। श्रमण भगवान महावीर का इससे उलटा सिद्धान्त है। वे कहते हैं कि उद्योग, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ या पराक्रम और नव पदार्थ नियति यानी भावी से निश्चित हो चुके हों, ऐसी कोई बात नहीं। इन दोनों में गोशाल का सिद्धान्त अच्छा है, महावीर का बुरा है।"

कुण्डकोलिय ने उत्तर दिया—"हे देव ! जो तुम कहते हो कि उद्योग, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ,[2] (पराक्रम) जैसा कुछ है ही नहीं और सब पदार्थ भावी से निश्चित हो चुके हैं—ऐसा गोशाल का सिद्धान्त ही सच्चा है और उद्योग, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ या पराक्रम का प्रतिपादन करने वाले महावीर स्वामी का झूठा है तो कृपाकर बतलाइए कि आपने यह दिव्य प्रभाव—यह देवत्व, किस तरह प्राप्त किया ? पुरुषार्थ से या उसके बिना, ऐसे ही ? देव ने जवाब दिया—"उसके बिना, अपने आप" कुण्डकोलिय—"ठीक, तब ये असंख्य जीव जो देवत्व प्राप्त करने के लिए उद्योग नहीं करते वे क्यों देव नहीं हो जाते ? इसलिए, हे देव ! तुमको यह पद, यह पद प्राप्त करने के लिए किया गया उद्योग यानी पुरुषार्थ या पराक्रम के कारण ही मिला है—मिलना था इसलिए मिला है ऐसा तुम्हारा कहना झूठ है।" यह सुनकर देव को लगा कि मैंने इसको डिगाने का व्यर्थ ही यत्न किया। तत्पश्चात् तुरन्त वह देव अन्तर्धान हो गया।

हिन्दू (वेद) धर्म में, उसी तरह इस जैन धर्म में, कर्म का अर्थ

---

१. मूल में 'उत्थान'—खड़ा होना, चढ़ाव।

२. पुरुष का करना—पराक्रम; पुरुष का किया गया पराक्रम।

निश्चित हो चुकी भावी नहीं होता। दोनों में पुरुषार्थ की प्रशंसा है।

सच्चा ब्राह्मण कौन ?

जयघोष नाम का ब्राह्मण कुल में उत्पन्न एक महायशस्वी विप्र था। वह सब प्रकार के यम (पंच महाव्रत) पालन करता था। यह महामुनि एक वक्त गाँवों में घूमता-घूमता काशीपुरी आ पहुँचा। पुरी के बाहर एक मनोहर उद्यान में ठहरा। उसी समय विजयघोष नाम का एक वेद में कुशल ब्राह्मण काशी में यज्ञ करता था। वहाँ वह अनागार (घर छोड़कर यति बना हुआ) मुनि जयघोष एक मास का उपवास कर पारणा के लिए अन्न लेने गया। यज्ञवाट में भिक्षा के लिए आये हुए इस मुनि को देख-कर विजयघोष ने कहा—"हे भिक्षु ! मैं तुझे अन्न नहीं देता, दूसरी जगह माँगने जाओ, यहाँ तो जो ब्राह्मण वेद का ज्ञाता हो, यज्ञ समझता हो, ज्योतिष शास्त्र में प्रवीण हो, जो अपना और दूसरे की आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हो—उसी को अन्न दिया जाता है।" इस उत्तर से जरा भी गुस्सा न होते हुए उसी प्रकार अन्न के लिए नहीं, परन्तु दूसरे का कल्याण करने के ही लिए, जयघोष ने कहा—"हे विप्र, तू वेद का मुख (मुख्य तत्व क्या है यह) नहीं जानता, यज्ञ और धर्म का तत्व भी नहीं जानता, इस संसार से उद्धार करने के लिए कौन समर्थ है और कौन नहीं—वह भी तू नहीं जानता। अगर जानता हो तो बतला।" विजयघोष ने कुछ उत्तर न दिया, परन्तु वह दूसरे ब्राह्मणों के साथ जयघोष मुनि के सामने हाथ जोड़कर खड़ा रहा और सबने मिलकर मुनि से यह समझाने के लिए प्रार्थना की कि वेद, यज्ञ और धर्म का मुख क्या है ?

जयघोष मुनि ने यह सब समझाया और बाद में सच्चा ब्राह्मण किसको कहना चाहिए, इस सम्बन्ध में सविस्तार खुलासा किया। जयघोष मुनि कहते हैं—

"जो त्रस और स्थावर प्राणी को जानता है और उनकी तीनों प्रकार से (मन, वाणी और काया से) हिंसा नहीं करता, उसको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

जो क्रोध, हास्य (मसखरी में) लोभ या भय से भी कभी झूठ नहीं बोलता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

जड़ या चेतन, अल्प या अधिक—कोई वस्तु जो बिना दिये नहीं लेता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

जिस प्रकार जल में उत्पन्न कमल जल से भीगता नहीं, उसी प्रकार काम (संसार के सुख के पदार्थ) से जो लिप्त नहीं होता, उसको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

मूँड मुड़ाने से कोई भी मनुष्य श्रमण (सन्यासी) नहीं होता; ओंकार उच्चारण करने से ब्राह्मण नहीं होता; अरण्य में बसने से मुनि नहीं होता; और कुश चीर (वल्कल) से तपस्वी नहीं होता।

समता[1] से श्रमण होता है; ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है; ज्ञान से मुनि[2] होता है और तप द्वारा तपस्वी होता है।

कर्म से मनुष्य ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से शूद्र होता है।

जो द्विजोत्तम (उत्तम ब्राह्मण) उपर्युक्त गुण से युक्त है, वह अपना और दूसरे का उद्धार करने में समर्थ है।"

---

१. श्रमण का प्राकृत में समणो होता है, इसलिए उसके साथ समता शब्द जोड़ा गया।

२. मन्—मनन करना, मनन करके जानना—इस धातु से मुनि शब्द बना है।

जैन धर्म का सामान्य स्वरूप

अब जैन धर्म के कई सामान्य तत्त्व छाँट कर देते हैं—

१. अहिंसा—यह इस धर्म का परम तत्त्व है। इस धर्म के सब आचार-विचार के पीछे अहिंसा की तीव्र भावना जुड़ी है। और सिर्फ यज्ञ-यागादिक में या सामान्य खान-पान के लिए ही हिंसा का निषेध किया गया हो—इतना ही नहीं, परन्तु मनुष्य के सारे व्यवहार का सूक्ष्म अवलोकन कर उसमें कहाँ-कहाँ हिंसा का प्रसंग आता है—इसकी खोज की है और वहाँ हिंसा किस तरह रुके अथवा कुछ नहीं तो कम-से-कम हो इसके लिए बड़ी बारीकी से छानबीन की गई है।[1] वे षट्-जीव काय अर्थात् छः प्रकार के जीव-समूह मानते हैं—(१) पृथ्वी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) वनस्पति और (६) त्रस (त्रास—भय देख कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जो जा सके)। कटने से म्लान होना—मुरझाना, कटने पर भी पुनः उगना, आहार द्वारा वृद्धि पाना, निद्रा लेना इत्यादि जीव के धर्म इन सब में बहुत कम नजर आते है।

२. जैन धर्म का दूसरा बड़ा आग्रह तप के लिए है। उपवासादि से शरीर और इन्द्रियों का दमन करना वे आवश्यक गिनते हैं। वे आन्तर-वृत्ति की जय व्यर्थ नहीं गिनते, परन्तु देह का और आन्तर-वृत्ति का ऐसा गाढ़ सम्बन्ध है कि देह और इन्द्रिय-दमन के बिना मन जीतना अशक्य है—ऐसा मानते हैं, और इसलिए विविध प्रकार के उपवास की विधि का विधान करते हैं। साधु होने से पहले जो केश-लुंचन की विधि है, वह भी तप की शक्ति कमने के लिए ही है।

---

1. उदम्बर, कन्दमूल नहीं खाना, मूत्रपुरी आदि में सड़ान उत्पन्न न हो, इसकी व्यवस्था वगैरा करना।

३. वैराग्य पर भी वे बहुत ध्यान देते हैं। मनुष्य का परम पुरुषार्थ व्यावहारिक समृद्धि नहीं परन्तु कैवल्य-स्थिति यानी निर्वाण या शान्ति है; और उसके लिए सम्यग दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीन को (रत्नत्रय) बड़े धैर्य से प्राप्त करने का उपदेश करते हैं।

४. वे जगत् को अनादि मानते हैं और कहते हैं कि कर्म के महानियम से सब चला करता है। मनुष्य का कृत-कर्म भोगे बिना छुटकारा नहीं और 'जैसा करोगे वैसा पाओगे' इस सिद्धान्त को वे बड़े जोर से और ब्यौरेवार समझाते हैं।

५. इसलिए वे जगत् के कर्ता एक ईश्वर को नहीं मानते। परन्तु ऋषभदेव वगैरा रागादि दोष रहित और लोक के उद्धारक जो तीर्थङ्कर हो गए हैं, उनको भगवान् की तरह पूजते हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर पन्थ के बीच मूर्ति के स्वरूप में और पूजाविधि में बहुत अन्तर है। स्थानकवासी बिलकुल मूर्ति नहीं पूजते, परन्तु सब तीर्थङ्करों को मानते हैं।

६. जैन-धर्म के तत्वज्ञान में 'स्याद्वाद' यानी 'सप्तभंगीनय' मुख्य है। परन्तु यह विषय कठिन होने से हमको छोड़ देना पड़ता है। इसका संक्षेप में मुद्दा इतना ही है कि कोई भी वस्तु 'ऐसी है या वैसी है' इस तरह एक ही रूप में नहीं वर्णित की जा सकती; एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से भिन्न-भिन्न तरह की ठहरती है। इस बात को ध्यान में रखते हुए मतभेद के बहुत-से झगड़े शान्त हो सकते हैं।

उद्धरण

हे राजन्! जीवन और रूप जिनमें तुम्हारा मोह लगा है, बिजली की चमक की तरह चंचल (अस्थिर) हैं। मरने के बाद मनुष्य का क्या होता है, यह बात (परलोक) तुम नहीं

जानते। स्त्री, पुत्र, मित्र और बान्धव (सगे-सम्बन्धी) जीते के साथी हैं, मृत के पीछे कोई नहीं जाता।

यदि एक आदमी हजारों योद्धाओं को दुर्जेय संग्राम में जीते और एक आदमी अपनी आत्मा को ही जीते तो उसमें दूसरे की विजय बड़ी है।

पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, अभिमान, माया (कपट) तथा लोभ और आत्मा—ये जीतना कठिन है; जिसने आत्मा को जीत लिया तो सबको जीत लिया।

जो चारित्र और आचार के गुणों वाला है, जिसने उत्तम संयम पाला है, जो आस्रव (विषयों का आत्मा में बहना) रहित है और जिसने कर्म का अच्छी तरह क्षय कर दिया है—वह महान, उत्तम और नित्य स्थान को पाता है।

[उत्तराध्ययन]

मैं कहता हूँ कि जो अर्हन्त (तीर्थङ्कर भगवान) हो गए, जो होते हैं और जो होंगे वे ऐसा ही जानते हैं, ऐसा ही कहते हैं, ऐसा ही बतलाते हैं और ऐसा ही वर्णन करते हैं कि—सब प्राण, सर्वभूत, सर्व जीव, सर्व सत्व—इनको मारना नहीं, इन पर हुकूमत नहीं चलाना, इनको पकड़ना—कैद नहीं करना, इनको ताड़ना नहीं देना, इनका उपद्रव नहीं करना।

[आचारांग सूत्र]

अर्हन्तों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, इस लोक में जितने साधू हों उन सबको नमस्कार।

[नमस्कार-मंत्र]

: ३ :

वौद्ध धर्म

वौद्ध धर्म का जन्म-काल

जैन तीर्थङ्कर महावीर स्वामी के ही समय में परन्तु उनसे कुछ वाद—ई० स० पू० छठवीं शताब्दी में वौद्ध धर्म का प्रवर्तन करने वाले भगवान गौतम वुद्ध हुए। इनके समय तक प्राचीन वेद धर्म अनेक परिवर्तन (फेरफार—उथल-पुथल) देख चुका था। एक ओर जन समाज में किसी-किसी जगह ज्ञान भक्ति और वैराग्य का उपदेश संचित था, तो उसीके साथ दूसरी ओर प्रजा के बहुत बड़े भाग में कर्मकाण्ड का घना जाल विछा हुआ था और कवि, भक्त, ज्ञानी और साधुओं का स्थान टीकाकारों, वादियों, कर्मकाण्डियों और मूर्ख तपस्वियों ने ले लिया था। ऐसे समय में धर्म-परित्राण के महानियम के अनुसार श्री गौतम वुद्ध का अवतार हुआ।

वुद्ध—वोध प्राप्त, जागृत, ज्ञानी। इस संसार में सव अज्ञानी जनों को सोया समझना और ज्ञानी को ही जागता समझना। इसलिए गौतम कुल में उत्पन्न महापुरुष 'सिद्धार्थ' को वुद्ध कहते हैं। जिस तरह ब्राह्मण धर्म में विष्णु के चौवीस अवतार माने जाते हैं और जिस तरह जैन धर्म में चौवीस तीर्थङ्कर माने जाते हैं, उसी प्रकार वौद्ध धर्म में भी सव मिलकर चौवीस वुद्ध हुए—ऐसा कहा जाता है। परन्तु इन सवमें ऐतिहासिक प्रमाण

से जिनका अस्तित्व सिद्ध हो चुका है, वे बुद्ध ई० स० पू० छठी शताब्दी में हुए और वे गौतम बुद्ध ही हैं।

हम पहले इनके जीवन-चरित्र का अवलोकन कर जायँगे बाद में इनके धर्म-सम्बन्धी सिद्धान्त जानेंगे और अन्त में इनके द्वारा स्थापित धर्म-संघ की हकीक़त से परिचित होंगे। बौद्ध धर्म का जो महामंत्र है, उसमें भी यही तीन विषय बताये गए हैं। वह इस प्रकार हैं—

(१) बुद्धं शरणं गच्छामि—मैं बुद्ध की शरण जाता हूँ।
(२) धम्मं शरणं गच्छामि—मैं धर्म की शरण जाता हूँ।
(३) संघं शरणं गच्छामि—मैं संघ की शरण जाता हूँ।

इस 'रत्नत्रय' में बौद्ध धर्म के अनुयायियों द्वारा जो कुछ जानने योग्य है, वह सब बतला दिया गया है।

बौद्ध धर्म के ग्रन्थ

बौद्ध धर्म के बहुत-से ग्रन्थ पाली भाषा में हैं और बहुत-से संस्कृत में हैं। उसमें पाली भाषा के ग्रन्थ बहुत प्राचीन हैं। अनन्तर बौद्ध धर्म तिब्बत, चीन, जापान वगैरा देशों में फैला। इसलिए उस देश की भाषा में भी इस देश के पाली और संस्कृत ग्रन्थों का भाषान्तर हुआ है। इस तरह भिन्न-भिन्न भाषा की पुस्तकों में से हम लोगों को बौद्ध धर्म के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

बौद्ध धर्म का सबसे प्राचीन ग्रन्थ—जो पाली भाषा में है—त्रिपिटक नाम से प्रसिद्ध है। पिटक का अर्थ है पेटी, पिटारा, टोकरी। एक ने दूसरे को दी, दूसरे ने तीसरे को दी, इस तरह परम्परा से दी जाती गईं धर्म की टोकरियाँ, अर्थात् तत्सम्बन्ध ग्रन्थों का समूह-वर्ग हुआ पिटक। पिटक के तीन वर्ग हैं, इसलिए

तीनों मिलाकर त्रिपिटक कहलाते हैं। इन तीन के नाम निम्न-लिखित हैं—

(१) विनय पिटक
(२) सूत्र पिटक
(३) अभिधर्म पिटक

विनय पिटक में मुख्यत: भिक्षुओं को (साधुओं को) कैसे चलना चाहिए, इस विषय सम्बन्धी अनेक संवादों और कथाओं द्वारा उपदेश किया गया है। सूत्र पिटक में बौद्ध धर्म के तत्वज्ञान के सिद्धान्तों का इसी तरह से परन्तु अधिक सरस रीति से उपदेश किया गया है। और अभिधर्म पिटक में इन सिद्धान्तों का अधिक बारीकी से और ब्यौरेवार विचार किया गया है।

इसके अलावा सद्धर्म पुण्डरीक, ललित विस्तर, सुखावती-व्यूह वगैरा अनेक संस्कृत ग्रन्थों को भी बहुत-से बौद्ध-धर्मी मानते हैं।

सूत्र पिटक में से बौद्ध धर्म का साररूप से 'धम्म (धर्म-) पद' नाम का एक ग्रन्थ रचा गया है और गौतम बुद्ध के पूर्व अवतारों (बोधिसत्व) की कथाओं का एक 'जातक-माला' नाम का ग्रन्थ है। इसमें सरल ढंग से बौद्ध धर्म के तत्व ज्ञान का और नीति का अच्छा निरूपण किया गया है।

गौतम बुद्ध का जीवन-चरित्र

गंगा के उत्तर प्रदेश में हिमालय की दक्षिण तलहटी में कपिल-वस्तु नाम का गाँव था। उसका राजा ई० स० पू० छठवीं शताब्दी में शुद्धोदन नाम का था। कपिलवस्तु के पास के एक गाँव के राजा की दो लड़कियों को इसने ब्याहा था जिसमें

से एक का नाम महामाया और दूसरी का नाम महाप्रजापति था। दोनों के दीर्घ समय तक कोई सन्तान नहीं हुई। ४५ वर्ष की उम्र में बड़ी बहन महामाया को गर्भ रहा और प्रसूति का समय पास आने पर वे पीहर जाने को निकलीं। वहाँ रास्ते में एक नदी के किनारे लुम्बिनी नाम के वन में इनके पुत्र प्रसव हुआ। इस पुत्र के जन्म से माता-पिता की इच्छा पूर्ण हुई, इसलिए इसका नाम सिद्धार्थ रखा गया। इनके गोत्र (कुल) का नाम गौतम था, इसलिए ये गौतम नाम से भी प्रसिद्ध हैं और ये शाक्य नाम की क्षत्रिय-जाति में शिरोमणि निकले, इसलिए शाक्य सिंह भी कहलाते हैं। दिन बीतने पर इन्होंने बोध पाया—अर्थात् जागे, ज्ञानी हुए, इसलिए 'बुद्ध' ऐसा विशेषण जोड़ा गया। इनके जन्म के बाद थोड़े ही समय में इनकी माता की मृत्यु हो गई और सिद्धार्थ अपनी सौतेली माता—मौसी—महाप्रजापति के पास पले। बड़े होने पर गौतमबुद्ध का यशोधरा नाम की एक क्षत्रिय राज-कन्या के साथ पाणिग्रहण हुआ। उससे इनके राहुल नाम का एक पुत्र हुआ। तब से २९ वर्ष की उम्र तक इनका कुछ हाल प्राप्त नहीं है। परन्तु हम सहज अनुमान कर सकते हैं कि इस समय युवावस्था के—इन्द्रियों के—अनेक सुख भोगे गए होंगे।

परन्तु गौतम बुद्ध की आत्मा संस्कारी थी; इन्द्रियों के सुखों में लिप्त रहे, ऐसी न थी। इसी दर्मियान, ऐसा कहा जाता है कि एक समय ये रथ में बैठकर बाहर घूमने निकले, वहाँ इन्होंने एक बूढ़े मनुष्य को जिसकी कमर झुक गई थी, आँखों में कीचड़ भरा था, मुँह से लार बहती थी, चलते ठोकर लगती थी इत्यादि अनेक बुढ़ापे के दुःखों से पीड़ित देखा। दूसरे प्रसंग पर एक रोगी को जिसके हाथ-पाँव में रक्तपीत हो गया था, मुँह पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं और पेट जलोदर से फूल गया था

रास्ते में पड़ा देखा। फिर दूसरी बार एक मुर्दा रास्ते में जाता और उसके पीछे लोगों को हाय-हाय करते रोते जाते देखा। राजकुमार को ऐसा दृश्य पहले कभी नजर नहीं पड़ा था इसलिए उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। जब इनके सारथी ने इनको समझाया कि ये बातें—जरा (बुढ़ापा), व्याधि और मरण—तो संसार में बिलकुल साधारण हैं तब इनके मन में तीव्र वैराग्य हो आया। परन्तु क्या करना चाहिए यह नहीं सूझता था।

एक बार ये घूमने निकले थे। वहाँ सामान्य लोगों से भिन्न ही वेष का एक आदमी दीखा। उसको देखकर इन्होंने सारथी से पूछा—"यह कौन है?" तब सारथी ने कहा कि 'यह संन्यासी है।' "संन्यासी कौन होता है?" "संसार को दुःखरूप देखकर जो इसको छोड़ देता है।" गौतम ने यह सुनकर संसार छोड़कर चला जाने और इन दुःखों के निवारण का उपाय ढूँढ निकालने का निश्चय किया। रोजाना के रिवाज के अनुसार गाना-बजाना हो जाने के बाद कुमार शयनगृह में गये, परन्तु नींद नहीं आई। रानी यशोधरा और राजकुमार राहुल सोते थे। उनके पास गये। बालक को बुलाकर मिलने का मन हुआ, परन्तु रानी का एक हाथ बालक के ऊपर रखा था, उसको हटाकर बालक को लिया जाय तो रानी जाग उठे और रानी जाग उठे तो फिर वह अपने प्रिय पति को संसार छोड़ने दे तो ठीक, न छोड़ने दे तो फिर क्या करना? ऐसी अनेक मुश्किलें इनके मन में आने लगीं, तथा इसको इसी तरह छोड़ जाऊँ या न जाऊँ इत्यादि अनेक संकल्प-विकल्प होने लगे। आखिरकार उसी तरह असंख्य जीवों का कल्याण करने के लिए सिद्धार्थ इनको ऐसा-का-ऐसा छोड़कर, महल छोड़कर, एक सफेद घोड़े पर सवार होकर चले गये। यह महान् घटना सिद्धार्थ के जीवन की, उसी तरह जगत् के इतिहास की यह

महान् घटना—बौद्ध धर्म शास्त्रों में 'महाभिनिष्क्रमण' के नाम से प्रसिद्ध है।

गौतम रात-ही-रात घोड़े पर बहुत दूर चले गये। एक नदी के किनारे घोड़े से उतरे, तलवार निकाली और उससे अपने मनोहर केश काटे तथा आभरण वगैरा अपनी राजकुमार की पोशाक उतारकर साईस को दे दी और उसको कपिलवस्तु की ओर विदा किया; स्वयं साधु के वेष में आगे बढ़े। कुछ समय पास के आम्रवन (आंबावाड़ी, अमराई) में रह कर, मगध की राजधानी राजगृह की ओर गये। वहाँ बिम्बि (बिन्दु) सार नाम का राजा राज्य करता था। राजा ने इनका सम्मान किया और इनसे आचार्य-पद लेने को कहा। परन्तु वैसा न करते हुए उन्होंने आडार (आराड) कालाम और उरुद्रक रामपुत्र नाम के दो ब्राह्मण विद्वानों के पास तत्वज्ञान का अभ्यास शुरू किया। परन्तु उनके सिद्धान्त सिद्धार्थ को सन्तोष-जनक नहीं लगे। इसलिए उनको छोड़कर ये आगे चले। कितनी ही जगह श्रोत्रियों को यज्ञ में पशु होमते देखा; यह तो इनकी दयालु आत्मा को बिलकुल विपरीत ही लगा। गया (गाँव) पहुँचकर पास के वन में कौंडिन्य वगैरा पाँच शिष्यों के समक्ष इन्होंने उग्र तप आचरण किया। छः वर्ष कठिन तपश्चर्या करने से शरीर काष्ठ की तरह सूख गया और कमजोरी बढ़ गई। एक बार फल्गु (नैरंजना) नदी में नहाने गये तो वहाँ इनको पानी में से निकलना भारी पड़ गया। आखिर किनारे पर के पेड़ की डाल पकड़कर खड़े हुए और आश्रम की ओर मुड़े, परन्तु चल नहीं सके। रास्ते में बेसुध होकर गिर पड़े।

एक गोप-कन्या (नन्द बाला) पास से जा रही थी; उसने इनको दूध पिलाया, खड़ा किया और आश्रम पहुँचाया। इतना देह-कष्ट सहन करने पर भी संसार के दुःख का निदान (कारण)

और उसके निवारण करने का मार्ग इनको जरा भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ। अत्यन्त भोग-विलास से जिस प्रकार सत्य की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार अत्यन्त देह-कष्ट सहने से भी नहीं होती। आखिर 'मध्यम प्रतिपदा' (बीच के मार्ग) की महिमा इनको समझ पड़ी। अब से शरीर का निर्वाह करने के लिए पर्याप्त अन्न लेने लगे। और एक रात गया के पास वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ होकर बैठ गए। अब तक जिस सत्य को शोध निकालने के लिए इन्होंने व्यर्थ परिश्रम किया था उसका इनके अन्तर में आज प्रकाश चमक उठा। उन्होंने ज्ञान पाया, वे जागे, बुद्ध हुए। इस समय उनकी उम्र ३५ वर्ष की थी।

'मैं जगा परन्तु जब जगत् को जगाऊँ तब ही मेरा जागना सच्चा है,' इस प्रकार विचार कर वे उठे और काशी की तरफ गये। वहां वे पांच शिष्य कौंडिन्य वगैरा, इनकी नजर पड़े। उन्होंने निश्चय किया था कि इस तपोभ्रष्ट साधु का आतिथ्य-सत्कार नहीं करेंगे, परन्तु जब बुद्ध भगवान् के पास आये तब इनके तेज से वे ऐसे प्रभावित हुए कि सामने से उठकर सत्कार किये बिना उनसे नहीं रहा गया। बुद्ध भगवान् ने इनको 'चार आर्य सत्य', जो सत्य उस ध्यान की रात्रि के प्रहर-प्रहर में इनको ज्ञात हुए थे, का उपदेश किया और तब से बुद्ध भगवान् के धर्मचक्र-प्रवर्तन का आरम्भ हुआ।

वे और उनके पांच शिष्य मिलकर छः 'अर्हन्त हुए। पास के गांवों में से बहुत-से लोग इनका उपदेश सुनने आने लगे। इनके शिष्यों की संख्या बढ़ती गई। यशोधरा और राहुल को भी जिनको सोता छोड़कर सिद्धार्थ गये थे, जगाया—सच्चे अर्थ में जगाया। वे भिक्षु और भिक्षुणी के संघ में दाखिल हुए।

इसके बाद पैंतालीस वर्ष भगवान् बुद्ध ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। उसमें अनेक ब्राह्मणों को सच्चा ब्राह्मणत्व

किसमें है यह बताया तथा अपने संघ में दाखिल किया। इतना ही नहीं, परन्तु हज्जाम, झाड़ू लगानेवाले और गणिका वगैरा हरेक जाति के मनुष्यों को संघ में स्वीकृत किया। इनमें से बारह शिष्य बड़े उपदेशक हुए।

ऐसे शान्त, नियमित और परोपकारी जीवन के पैंतालीस वर्ष बिताकर अस्सी वर्ष की उम्र में बुद्ध भगवान् ने निर्वाण पाया।

अपने अवसान-काल में इन्होंने शिष्यों को जो उपदेश दिया है वह इनके गांभीर्य, विनय और उदारता को शोभा देता है।

"आनन्द[1]! रोना नहीं, शोक नहीं करना। आनन्द! क्या मैंने तुमसे नहीं कहा कि वस्तु-मात्र का स्वभाव ही है कि हमको वह चाहे जितनी प्रिय क्यों न हो, परन्तु आखिर में हमें उसको छोड़कर जाना ही पड़ता है? आनन्द! जो कुछ जन्मा है, हुआ है, वह नाश पाये बिना कैसे रह सकता है?

"आनन्द! मैंने तुमको कुछ भी गुप्त रखे बिना धर्म का उपदेश किया है। तथागत[2] ने कभी भी धर्म को मुट्ठी में बाँधकर नहीं रखा। संघ मुझपर अवलंबित है, ऐसा उसने कभी नहीं माना। उसके बाद इसको क्या सूचना देने की रह जाती है? धर्म को अपना दीप समझकर चलना, धर्म की शरण पकड़े रहना। अपनी जाति को छोड़कर किसी दूसरे पर इस विषय में आधार नहीं रखना। जो इस प्रकार चलेगा वह महापरिनिर्वाण—उत्तम निर्वाणावस्था पायेगा।"

---

१. गौतम बुद्ध के एक सेवक, शिष्य का नाम।

२. बुद्धदेव अपने लिए इस नाम का प्रयोग करते हैं। इसके बहुत-से अर्थ किये जाते हैं। एक अर्थ 'सत्य को प्राप्त' ऐसा होता है।

मेरे जाने के बाद धर्म और संघ को मेरी जगह मानना, ऐसा उपदेश देकर तथा शिष्यों को परस्पर कैसा बर्ताव करना चाहिए —इसके सम्बन्ध में शिक्षा देकर अपनी अन्तिम समाधि में उन्होंने प्रवेश किया और महापरिनिर्वाण पाया।

"अज्ञान रूपी अन्धकार को विदीर्ण करने वाले सूर्य ! संसार के दोष-रूपी ताप का शमन करने वाले चन्द्र ! तुम्हारी जय हो ! जय हो ! जय हो !"

"हे समस्त विश्व-के पति !......हे धर्म के प्रभु !........तुम्हारी जय हो।"

[अश्वघोष कृत बुद्ध चरित]

गौतम बुद्ध का मुख्य उपदेश

भगवान् गौतम बुद्ध ने संसार में जरा (बुढ़ापा), व्याधि और मरण देखा—उस पर से अत्यन्त दयालु हृदय को एक निश्चय हुआ कि वस्तुमात्र क्षणिक है और दुःखरूप है। अपने ऊपर दुःख पड़ने से संसार दुःखमय है, ऐसी समझ तो बहुत-से साधारण लोगों को भी हो जाती है, परन्तु बुद्ध भगवान की समझ में यह विशेषता थी कि इनको स्वयं दुःख भोगने का प्रसंग न आया था, बल्कि स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी आदि संसार के सब सुख इनको भरपूर मिले थे, तो भी केवल उच्च दयालु वृत्ति के कारण ही स्वयं इस महान् सत्य का दर्शन किया था।

संसार दुःखरूप है—यह देखना तो आज सहज है, परन्तु इस दुःख का निदान—कारण—ढूँढ निकालने और इसके निवारण का उपाय करने में बुद्धि की सूक्ष्मता की और परोपकार के बल की बहुत जरूरत पड़ती है। बुद्ध भगवान् ने देखा कि दुःख केवल जीवन की तृष्णा (प्यास) में से—"मैं जिऊँ, जिऊँ

चाहे जैसे हो—किसी को दुःख देकर भी जिऊँ ऐसी लालसा में से उत्पन्न होता है। इसलिए आत्मवाद छोड़कर अनात्मवाद ग्रहण करना अर्थात् अहंभाव (मैं-पन) छोड़ना—यह दूसरा सिद्धान्त बनाया। बुद्ध भगवान् को अपने समय में आत्मा के नाम पर घना स्वार्थ प्रचलित दिखाई पड़ा; इस आत्मा (मैं-पन, खुदी) के मोह से मनुष्य संसार में अनेक पाप करता है; इतना ही नहीं, परन्तु जो लोग यज्ञ में असंख्य पशुओं का होम करते हैं वे भी मरने के बाद 'मेरी आत्मा स्वर्ग जायगी', ऐसी आशा ही करते हैं—ऐसा इनको दिखाई पड़ा।

तृष्णा और तृष्णा से उत्पन्न होनेवाला 'उपादान' (विषय-ग्रहण)—का नाश हो तो पुनर्जन्म और पुनर्जन्म के साथ जुड़े हुए जरा-मरण वगैरा के दुःख शान्त हो जायं—यह दुःख-रहित स्थिति निर्वाण है। निर्वाण अर्थात् बुझ जाना मनुष्य के हृदय में मैं-पन (अहन्ता) और राग-द्वेष वगैरा जो-जो वृत्तियां सुलगती हैं उनका बुझ जाना। इस निर्वाण प्राप्त करने का गौतम बुद्ध ने जो मार्ग ढूंढ निकाला वह 'मध्यम-प्रतिपदा' अथवा आर्य अष्टाङ्ग मार्ग कहलाता है। गौतम बुद्ध ने स्वानुभव से देखा था कि जिस तरह भोग-विलास से सत्य नहीं मिलता उसी तरह अत्यन्त देह-कष्ट से भी वह नहीं मिलता। खरे सत्य का मार्ग दो छोरों के मध्य में है और इसलिए वे इसको 'मध्यम-प्रतिपदा' यानी बीच का मार्ग कहते हैं। यह सत्पुरुषों का—आर्यजनों का—मार्ग है और उसके आठ अंग हैं, इसलिए यह 'आर्य अष्टांङ्ग मार्ग' भी कहलाता है। इस विषय में आगे एक पाठ में कहा जायगा।

मृत्यु का उपचार

किसा (कृशा) गोतमी नाम की एक सुन्दर युवती एक धनाढ्य युवा से व्याही गई थी और उससे उसके एक सुन्दर बालक का जन्म हुआ था। बालक दौड़ने-फिरने लायक हुआ कि इतने में वह विचारा काल के मुंह में चला गया। माता इस घटना से पागल-जैसी हो गई और शायद कोई इसको औषधि देकर जिला दे, इस आशा से बालक के शव को हाथ में लेकर वह मुहल्ले-मुहल्ले में भटकी। रास्ते में एक बौद्ध-भिक्षु मिला, उससे बड़ी आजिजी से कहा—"महाराज! मेरे बालक को कुछ औषधि दो और जिला दो"—"बाई! इसकी औषधि मेरे पास नहीं," भिक्षु ने कहा, "परन्तु हमारा एक गुरू गौतम बुद्ध नामक है, अगर उसके पास जाओगी तो वह कुछ देगा।" किसा गोतमी फौरन बालक को लेकर गौतम बुद्ध के पास गई और कहा—"भगवन्! आप समर्थ हो, मेरे बालक को कुछ औषधि देकर जिला दो।" गौतम बुद्ध ने जवाब दिया—"बाई! इस बालक को यहीं सुला दो और मैं जैसी कहता हूँ वैसी थोड़ी-सी राई ले आओ तो तुम्हारा बालक जिला दूं।" यह उत्तर सुनकर स्त्री को हर्ष हुआ और आशा से भरी राई लेने जा रही थी कि बुद्ध भगवान् ने कहा-"बाई! ऐसे मंगल कार्य के लिए असंगल राई नहीं चाहिए। इसलिए ऐसे के घर से लाना जिसके घर में कभी कोई सगा-सम्बन्धी न मरा हो।" स्त्री से पुत्र के शव का विरह सहन नहीं हो सकता था और इसलिए प्रेम से विकल बनी वह स्त्री बालक को हाथ में लेकर बुद्ध भगवान् द्वारा बतलाई गई राई लेने चली। एक घर गई तो घरवाले ने कहा—"बाई! राई तो है, परन्तु तू जैसी कहती है वैसी नहीं। मेरे घर में क़रीब महीना हुआ एक जवान पुत्र मर गया है। इसलिए लाचार हूँ।"

किसा गोतमी दूसरे घर गई, तीसरे घर गई, इस तरह सैकड़ों घर भटकी। किसी के यहां लड़का तो किसी के यहां लड़की, किसी के यहां पति तो किसी के यहां बहू, किसी के यहां भाई तो किसी के यहां बहन, किसी के यहां बाप तो किसी के यहां मां, इस तरह जहां-जहां खोज की वहां कोई-न-कोई तो मरा ही ज्ञात हुआ। किसा गोतमी गौतम बुद्ध के पास आई और सब हाल कहा। गौतम बुद्ध ने इस अनुभव का मर्म—स्नेही सम्बन्धी के मरण बिना कोई घर नहीं; जो जन्मा है उसको मरना ही है; पदार्थ-मात्र नाशवान् है, यह सिद्धान्त—किसा गोतमी को समझाया। किसा गोतमी संसार छोड़कर भिक्षुणी हुई।

अनात्मवाद

मिलिन्द राजा और नागसेन आचार्य के बीच में बौद्ध धर्म के तत्त्व ज्ञान के सम्बन्ध में अनेक उत्तम प्रश्नोत्तर हुए हैं। उसमें 'अनात्मवाद'-सम्बन्धी एक निम्नलिखित सरस संवाद है—

मिलिन्द—भगवान्! आपका क्या नाम है?

नागसेन—मुझे नागसेन कहकर पुकारते हैं। माता-पिता नागसेन, सूरसेन, वीरसेन, सिंहसेन, चाहे जो नाम दें वह सिर्फ वाचारंभण—वाणी द्वारा उद्बोधित संज्ञा—ही है। इस नाम वाला कोई आत्मा-जैसा पदार्थ नहीं।

मिलिन्द—(पांच-सौ मंत्री और अस्सी हजार भिक्षु-साधु वहां इकट्ठे हुए थे उनको सम्बोधन कर) मंत्रिओ और भिक्षुओ! नागसेन क्या कहता है सुनो। ये कहते हैं कि यहां कोई आत्मा ही नहीं। जो ये कहते हैं क्या वह मानने योग्य

है ? (बाद में नागसेन को सम्बोधित कर) नागसेन—अगर कोई आत्मा-जैसा पदार्थ ही नहीं तो तुम भिक्षुओं को ये वस्त्र, अन्न, शयन, औषधि आदि पदार्थ कौन देता है ? इन पदार्थों को कौन इस्तेमाल करता है ? तुम्हारी देशना (उपदेश) कौन सुनता है ? तुम्हारा मार्ग कौन सेवन करता है ? निर्वाण कौन पाता है ? पाप-पुण्य वगैरा के लिए कौन जवाबदेह है ? अगर आत्मा न हो तो पाप-पुण्य संभव ही नहीं, पाप-पुण्य को करने या करानेवाला ही नहीं रहा। तुम भिक्षुओं को कोई मार भी डाले तो क्या ? कोई मार डालने वाला ही नहीं। और तुम्हारा गुरू, आचार्य-जैसा भी कोई नहीं। फिर नागसेन ! तुमने कहा कि तुमको सब नागसेन कहकर बुलाते हैं; परन्तु नागसेन किसको कहते हैं यह तो जरा बताओ ? भगवन् ! क्या तुम्हारा बाल नागसेन है ?

नागसेन—न, राजन् !

मिलिन्द—तुम्हारा दांत नागसेन है ?

नागसेन—नहीं, राजन् !

मिलिन्द—तुम्हारे बाल, दांत, चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, हृदय, यकृत्, अँतड़ियाँ, पेट, कफ, पित्त, रक्त, पीप, पसीना, आँसू, लार, मूत्र, पुरीष, मगज—इनमें से कोई नागसेन है ?

नागसेन—न, राजन् !

मिलिन्द—तब वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, मन और इन्द्रियों का व्यापार—इनमें से कोई नागसेन है ?

नागसेन—इनमें से भी कुछ नहीं।

मिलिन्द—तब भगवन् ! नागसेन जैसा क्या रहा ? तुम झूठ बोलते हो, नागसेन है ही नहीं।

फिर नागसेन ने कहा—(मानो दूसरी बात करने लगा हो) राजन्, आप बहुत सुकुमार हैं। ऐसी गर्मी और जलती रेत में होकर आपसे कैसे आया गया? आपके पैर जल गए होंगे, शरीर थक गया होगा, मन को दुख हुआ होगा?

मिलिन्द—भगवन्! नहीं, मैं कभी पैदल नहीं चलता। मैं रथ में बैठकर आया हूँ।

नागसेन—राजन्, तुम रथ में बैठकर आए, तो रथ क्या है यह मुझे बतलाओगे?

मिलिन्द—यह?

नागसेन—यह पहिया रथ है?

मिलिन्द—नहीं।

नागसेन—तब यह धुरी रथ है?

मिलिन्द—नहीं।

नागसेन—तब यह जुआ रथ है?

मिलिन्द—नहीं।

इस तरह एक के बाद एक रथ के भिन्न-भिन्न अवयव बतलाए। परन्तु उनमें एक भी रथ नहीं है यह ठहराया गया। तदनन्तर नागसेन ने सब-मंत्रियों और भिक्षुओं को संबोधित कर कहा—

नागसेन—मंत्रियो तुम साक्षी हो, राजा कहता था कि वह रथ में बैठकर आया है मैं पूछता हूँ कि रथ कहाँ है बताओ तब वह स्वयं नहीं बतला सकता। इसलिए इनका कहना असत्य है।

मिलिन्द—भगवन्! मैं समझा। 'रथ' नाम मात्र है—धुरी, पहिया, और, जुआ वगैरा के लिए यह सिर्फ एक सुविधाजनक शब्द ही है।

नागसेन—और इसी तरह राजन्! आत्मा भी अमुक केश, नख, चर्म वगैरा पहचानने के लिए केवल सुविधाजनक शब्द है। वस्तुतः आत्मा जैसा कोई पदार्थ नहीं है।

वृथा विवाद

एक बार बुद्ध भगवान श्रावस्ती नगरी के पास अनाथ पिंडक के उपवन में जेतवन विहार में शिष्यों के साथ रहते थे। इतने में मालुंक्य पुत्र नाम के एक शिष्य को ध्यान करते-करते विचार आया कि—"गुरु ने कई प्रश्नों के बारे में आज तक कुछ नहीं कहा जैसे कि—यह जगत् नित्य है या अनित्य? परिच्छिन्न है या अपरिच्छिन्न? इसलिए इस विषय में इनसे मैं पूछूँगा।" ऐसा विचार कर वह बुद्ध भगवान् के पास गया और कहा—"भगवन्! आपने हमारी बहुत-सी शंकाओं का समाधान तो किया, परन्तु थोड़े-से प्रश्न रह गए हैं। यह जगत् नित्य है या अनित्य? परिच्छिन्न है या अपरिच्छिन्न? नित्य समझते हैं तो वैसा कहिए, अनित्य समझते हैं तो वैसा कहिए। दोनों में से क्या है, अगर न जानते हों तो कृपा कर कहिए कि मैं नहीं जानता। और अगर ऐसा हो तो फिर आप गुरु भी किस के?"

शिष्य की ऐसी वाणी सुनकर भी पूर्ण शान्ति से बुद्ध भगवान ने जवाब दिया—"भाई मालुंक्य पुत्र, जब तुम शिष्य हुए थे, तब मैंने क्या तुम से कहा था कि मैं तुमको इस प्रश्न का उत्तर दूँगा?"

शिष्य ने कहा,—"नहीं महाराज।"

बुद्धदेव—"तब मेरी ओर से उत्तर मिलना ही चाहिए—ऐसा क्यों कहते हो? जिस मनुष्य की ऐसी धारणा हो कि इन प्रश्नों का जो उत्तर दे वही सच्चा गुरु है तो उससे तो

मेरा इतना ही कहना है कि—'भाई, मेरे शिष्य न बनो।' क्यों, सो सुनो।

"यदि एक मनुष्य को विषैला बाण लगा हो तो वह शस्त्र-वैद्य के पास जाकर निकलवाएगा या पहले यह विचार करने बैठेगा कि अच्छा यह बाण मारने वाला ब्राह्मण होगा या क्षत्रिय, वैश्य होगा या शूद्र ? क्या वह ऐसा कहेगा कि ना, ना, मैं तो यह बाण नहीं निकलवाता, पहले तो मुझे बतलाओ कि यह बाण मारने वाला लम्बा था या छोटा, इस गांव का था या परदेसी, धनुष बांस का था या बेंत का, डोरी सूत की थी या तांत की, इत्यादि इत्यादि ?

"मालुंक्य पुत्र ! जगत् नित्य है या अनित्य ? इसका कर्ता है या नहीं है ? है तो कैसा है ? इत्यादि प्रश्नों पर धार्मिक जीवन का आधार नहीं है।"

साधन की आवश्यकता

मनसाकर नाम के नगर में वासिष्ठ और भारद्वाज (वासिष्ठ और भारद्वाज गोत्र के) नाम के दो ब्राह्मण रहते थे। उनके बीच में इस विषय का विवाद चला कि मुक्ति यानी ब्रह्म को पाने का सीधा और (ऋजु) मार्ग क्या है। वासिष्ठ कहता था कि पुष्करादि आचार्य द्वारा बताया गया मार्ग सीधा और ऋजु है। भारद्वाज कहता था कि तारुक्ष आचार्य द्वारा बताया गया मार्ग सीधा और ऋजु है। उनमें निर्णय न हो सका, इसलिए दोनों जनों ने विचार किया कि बुद्ध भगवान जैसा ज्ञानी और साधु दूसरा नहीं। उनसे अपनी शंका पूछें वे अपने विवाद का समाधान करेंगे। दोनों गौतम बुद्ध के पास गए। और कहा —"भगवन्, हमारे बीच में मतभेद हो गया है।" गौतम भगवान

ने पूछा—"क्या ?" तब वासिष्ठ ने जवाब दिया—"भगवन् ! सच्चा मार्ग क्या है ? इसकी बाबत ब्राह्मणों में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। अथर्ववेदी एक कहते हैं, तैत्तिरीय (यजुर्वेदी) दूसरा बतलाते हैं, छान्दोग्य (सामवेदी) तीसरा बतलाते हैं और बह्वृच (ऋग्वेदी) फिर चौथा ही कहते हैं। इन सबके बताए हुए मार्ग से क्या सचमुच मुक्ति मिलेगी ? क्या सचमुच जीव ब्रह्म को प्राप्त करता है ? जिस प्रकार अलग-अलग रास्तों से भी एक ही गांव पहुंचा जाता है, उसी तरह ये विविध मार्ग एक ही स्थल को पहुंचते होंगे ?

गौतम—"परन्तु वे सब सच्चे मार्ग हैं—ऐसा तुम कैसे कहते हो ?"

वासिष्ठ—"हाँ ! मेरा कहना ऐसा ही है।"

गौतम—"परन्तु उनमें से किसी ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया है क्या ?"

वासिष्ठ—"नहीं, वैसा किसी ने किया तो नहीं मालूम पड़ता।"

गौतम—"क्या उनके गुरुओं ने किया है ?"

वासिष्ठ—"नहीं, उन्होंने भी नहीं।"

गौतम—"इनकी गुरु-परम्परा में सात पीढ़ी तक भी किसी ने किया होगा, क्या तुमको ऐसा लगता है ?"

वासिष्ठ—"नहीं।"

गौतम—"नहीं, तब तो यह निश्चित हुआ कि तीन वेद में कुशल ब्राह्मण भी ऐसा कहते हैं कि 'हमने जो वस्तु कभी देखी नहीं, जानी नहीं, उसका सीधा मार्ग हम बतलाते हैं।' "

वासिष्ठ—"जी हाँ।"

गौतम—"यह तो तब अन्धों की परम्परा हुई। न अगुआ देखता है, न बीच का देखता है, न आखिर का देखता है। तीन-

वेद में कुशल ब्राह्मणों की वाणी भी सिर्फ खाली शब्दों की पोल —मिथ्यालाप है।

"वासिष्ठ ! एक मनुष्य चार रास्तों के चौक के बीच में बैठ कर सीढ़ी बनाता है। उससे पूछा जाता है कि इस सीढ़ी से कौनसे मकान पर चढ़ना है, तब वह उत्तर देता है कि वह मकान तो मैं नहीं जानता। वह कैसा मूर्ख है ! इसी की तरह ब्रह्मा को देखे-जाने बिना जो उसके मार्ग की बात करता है, वह मूर्ख है। इस अचिरवती नदी के दोनों किनारे बाढ़ आई हो और सामने के किनारे का काम वाला मनुष्य इस किनारे खड़ा-खड़ा शोर मचावे—'ओ सामने के किनारे, इधर आना, इधर आना।' वासिष्ठ ! इस तरह यह मनुष्य उस पार को हजार बार पुकारे, उसकी स्तुति करे, आजिजी करे, परन्तु सामने किनारा इस तरफ आयगा क्या ? उस तक पहुँचने के लिए तो उसे डोंगी में बैठना चाहिए और डाँढ़ चलाकर वहाँ पहुँचना चाहिए। उसी तरह तीन वेद में कुशल ब्राह्मण जिन गुणों से ब्राह्मणत्व होता है उनको छोड़कर जिन गुणों से अब्राह्मणत्व होता है उनका आचरण करे, तो 'हे इन्द्र, मैं तुम्हें बुलाता हूँ, हे वरुण, मैं तुम्हें बुलाता हूँ, हे ब्रह्मा, मैं तुम्हें बुलाता हूँ', ऐसा कहने से कुछ फल होगा क्या ?

"वासिष्ठ ! इस नदी में पूर आया है। उस समय एक मनुष्य को दूसरे किनारे जाना है, परन्तु बिचारे के हाथ मजबूत सांकल से पीठ से बाँध दिये गए हैं—क्या वह उस पार जा सकता है ? उसी तरह अर्हन्तों के विनय में जिसको 'संयोजन' यानी सांकल कहते हैं, उस तरह के मनुष्य मात्र को पांच बन्धन हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श, जो हृदय में विकार (राग) उत्पन्न कर उसके लिए बन्धन रचते हैं। वासिष्ठ ! इस नदी में बाढ़ आई है। उस समय एक मनुष्य को सामने वाले किनारे पर जाना

है, परन्तु वह इस किनारे सिर ढक कर पड़ा है और सोता है; क्या वह मनुष्य उस पार पहुँचेगा ? इसी तरह मनुष्य जब तक पांच आवरण--राग, द्वेष, मोह, चांचल्य और विचिकित्सा (शंका) से ढका है, तब तक वह ब्रह्म को नहीं पा सकता।"

अष्टांग मार्ग और संयोजन

बुद्ध भगवान् ने देह-कष्ट और भोग-विलास दोनों के बीच का आर्य-जनों द्वारा पालने लायक जो मार्ग बताया है, उसके आठ अंग निम्नलिखित हैं—

(१) सम्यग्दृष्टि—अच्छी समझ, ज्ञान ।

(२) सम्यग् संकल्प—अच्छा संकल्प (क्रिया करने का निश्चय)।

(३) सम्यग् वाक्—अच्छी वाणी; जैसे कि असत्य भाषण न करना, चुगली या निन्दा नहीं करना, गाली नहीं देना, मिथ्या बकवाद नहीं करना ।

(४) सम्यग् कर्म—अच्छा कर्म (शील और दान)।

(५) सम्यग् आजीविका—अच्छी आजीविका, अच्छा धंधा करके गुजर करना ।

(६) सम्यग् व्यायाम—अच्छा प्रयत्न ।

(७) सम्यग् स्मृति—अच्छी स्मृति या विचार ।

(८) सम्यग् समाधि—अच्छी समाधि, चित्त एकाग्र करना।

ऊपर निर्दिष्ट मार्ग प्रत्येक मनुष्य—भिक्षु और गृहस्थ—सब के लिए है। इसमें व्यर्थ देह-कष्ट नहीं आता, परन्तु प्रत्येक प्रकार की अच्छाई प्राप्त करने के लिए दुष्ट विषय-भोग छोड़ने की तथा मन, इन्द्रियों को वश में करने की जरूरत तो है ही।

इस मार्ग से प्रयाण करने में मनुष्य को कई बन्धन यानी

सांकलें रोकती हैं। उनको बौद्ध धर्म में दस संयोजन कहते हैं जो निम्न हैं—

(१) सत्काय दृष्टि—यानी आत्मवाद, अहं भाव की दृष्टि।

(२) विचिकित्सा—संशय, गुरू का उपदेश सच्चा होगा या झूठा, इतना सब धर्म पालने पर भी कल्याण होता होगा या नहीं, इत्यादि शंका।

(३) शील, व्रत, परामर्श—शील और व्रत का चिन्तन किया करना और उसको अपने अहं के साथ जोड़ना। शील और व्रत पालना अच्छा है, परन्तु उसके ही चिन्तन में डूबे रहने से नुकसान होता है।

इनमें के पहले तीन 'संयोजन' यानी सांकल जिसने तोड़ दीं वह 'सोतापन्न' (स्रोत-आपन्न) होता है अर्थात् निर्वाण के स्रोत में पड़ता है।

(४) काम—विषय-वासना।

(५) प्रतिध—द्वेष, वैर।

(६) रूपराग—आंख से दीखने वाले अर्थात् ऐहिक पदार्थों पर आसक्ति।

(७) अरूप राग—अनदेखे स्वर्ग के सुख की आसक्ति।

(८) मान—अभिमान; मैं ज्ञानी हूँ इत्यादि प्रकार का गर्व।

(९) औद्धत्य—उद्धतपना; गर्व से उत्पन्न होनेवाली वृत्ति।

(१०) अविद्या—अज्ञान।

शील, शिक्षा, पारमिता और भावना

ब्राह्मण धर्म के योग सूत्र में जिनको 'पांच यम' कहा है और जैनधर्म में जिनको 'पांच व्रत' कहा है, उन्हीं से अधिकांश में

मिलते-जुलते बौद्ध धर्म में 'पंचशील' गिनाये गए हैं। ये पंच-शील हैं—

(१) प्राणातिपात—हिंसा न करना।

(२) अदत्तादान—चोरी न करना।

(३) मृषावाद—असत्य भाषण न करना।

(४) मद्यपान न करना।

(५) ब्रह्मचर्य पालना।

इन पांच में नीचे के तीन मिलाकर 'अष्टांग शील' का उपदेश किया गया है।

(६) रात्रि में भोजन न करना।

(७) पुष्प का हार चन्दन, वगैरा सुगन्धित पदार्थ धारण न करना।

(८) जमीन पर सिर्फ चटाई बिछाकर सोना।

ये अन्तिम तीन शील गृहस्थ के लिए आवश्यक नहीं हैं, परन्तु इनको भी उपोसथ (उपवसथ—उपवास) के दिनों में, अर्थात् सप्ताह में एक बार, आठों शील पालने चाहिएं।

फिर इन आठ में दो जोड़कर 'दस शील' किये गए हैं।

(९) नृत्य वादित्रादिक से परहेज करना।

(१०) सुवर्णादि धातु का परिग्रह न करना।

ये दस शील भिक्षुओं को खासकर पालने चाहिएं।

फिर 'दस शिक्षा' की एक सूची निम्नप्रकार है—

(१) 'प्राणातिपात'—हिंसा न करना।

(२) 'अदत्तादान'—बिना दिया नहीं लेना।

(३) ब्रह्मचर्य पालना (गृहस्थ को अपनी पत्नी पर ही प्रेम रखना)।

(४) 'मृषावाद'—झूठ नहीं बोलना।

(५) पैशुन्य—चुगली, निन्दा नहीं करना।

(६) औद्धत्य—अपमान नहीं करना।

(७) वृथा प्रलाप (बकवाद) नहीं करना।

(८) लोभ नहीं करना।

(९) द्वेष नहीं रखना।

(१०) विचिकित्सा—शास्त्र में और परमार्थ सम्बन्ध में संशय नहीं रखना।

इस संसार को पार करने के लिए साधनरूप कितनी ही पारमिताएँ गिनाई गई हैं—

(१) दान पारमिता—द्रव्य, विद्या, धर्मोपदेश वगैरा का दान इसमें आता है।

(२) शील पारमिता—पंचशील, अष्टशील, जो ऊपर गिना दिये गए हैं।

(३) क्षान्ति पारमिता—दुःख सहना और दूसरे के अपकार को क्षमा करना।

(४) वीर्य पारमिता—संसारी लालचों को जीतकर कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ होने की मुझमें शक्ति है—ऐसा उत्साह रखना।

(५) ध्यान पारमिता—धर्म और बुद्ध भगवान् का ध्यान करना।

(६) प्रज्ञा पारमिता—ज्ञान प्राप्त करना।

ब्राह्मण धर्म और जैनधर्म की चार भावनाओं से मिलती-जुलती बौद्ध धर्म में भी चार भावनाएं गिनाई गई हैं—

(१) मैत्री (२) करुणा (३) मुदिता और (४) उपेक्षा। इस विषय में ब्राह्मण और जैनधर्म में विवेचन हो चुका है, इसलिए यहां अधिक कहने की जरूरत नहीं है।[1]

---

१. हिन्दू धर्म की तीनों शाखाओं में कर्म, पुनर्जन्म वगैरा कितने ही सिद्धान्त एक से हैं। इतना ही नहीं, परन्तु गृहस्थ और यति पालने के नियमों में भी बहुत साम्य है।

सच्चा ब्राह्मण कौन ?

चम्पा नगरी में सोणदण्ड (सुवर्णदण्ड) नाम का एक धनिक, विद्वान और सुशील ब्राह्मण रहता था। सैकड़ों विद्यार्थी उसके पास पढ़ते और उसका आदर करते थे।

एक बार बुद्ध भगवान् विहार करते-करते चम्पा नगरी के बाहर आकर ठहरे। इनका उपदेश सुनने सारी नगरी के ब्राह्मण जा रहे थे। उनको देखकर सोणदण्ड ने कहा—"भाइयो, तुम न जाओ, मुझे जाने दो।" ब्राह्मणों ने कहा—"महाराज ! तुम्हारे-जैसे महात्माओं को कष्ट उठाना उचित नहीं। ऐसा करने से आपकी प्रतिष्ठा को बट्टा लगेगा।" परन्तु सोणदण्ड नम्र और विनयी था और गौतम बुद्ध का माहात्म्य जानता था, इसलिए उसने उनकी योग्यता की प्रशंसा की और कहा कि—"वे ऐसे महात्मा हैं कि मुझे उनके पास जाना ही चाहिए।" ऐसा कहकर सोणदण्ड तथा दूसरे ब्राह्मण गौतम बुद्ध के पास गये और वहां सच्चा ब्राह्मणत्व किसमें है—इस विषय पर चर्चा चली।

गौतम बुद्ध ने सोणदण्ड के मन का प्रश्न जानकर पूछा—

"सोणदण्ड—ऐसी कौन सी वस्तु है कि जिसके होने से ब्राह्मण 'मैं ब्राह्मण हूँ' ऐसा यथार्थ रीति से कह सके ?"

सोणदण्ड—"गौतम, पांच बातें हों तो ब्राह्मण 'मैं ब्राह्मण हूँ' ऐसा यथार्थ रीति से कह सकता है—

(१) एक तो इसके माता और पिता का उभय वंश विशुद्ध होना चाहिए।

(२) इसको तीनों वेदों में और उसके लिए आवश्यक अन्य शास्त्रों में कुशल होना चाहिए।

(३) फिर उसको सुन्दर, गोरा, देखने में प्रिय और भव्य होना चाहिए।

(४) शील—चरित्रवान होना चाहिए।
(५) प्रज्ञावान—बुद्धिमान होना चाहिए।"

बुद्ध भगवान् ने पूछा—"परन्तु सोणदण्ड ! इन पांच रूप, कुल, श्रुत, शील और प्रज्ञा में से कोई एक नहीं हो तो क्या चलेगा?"

सोणदण्ड—"हां, रूप न हो तो चलेगा, बाकी के चार काफी हैं।"

बुद्ध—"परन्तु इन चार में से कोई नहीं हो तो चलेगा ?"

सोणदण्ड—"श्रुत (विद्या) न हो तो चलेगा।"

बुद्ध—"बाकी के तीन में से एकाध न हो तो चलेगा ?"

सोणदण्ड—"हां, कुल न हो तो भी चलेगा ?"

यह सुनकर दूसरे ब्राह्मण चकित हुए, परन्तु उनसे सोणदण्ड ने कहा—"भाइयो ! मैं कुछ अपने रूप, कुल या श्रुत (विद्या) की निन्दा नहीं करता। ब्राह्मणत्व में क्या आवश्यक है, इतना ही कहता हूँ।"

ऐसा कहकर उनको ठंडा किया।

बुद्ध—"बाकी दो रहे, शील और प्रज्ञा—इनमें से एक न हो तो क्या चलेगा ?"

सोणदण्ड—"नहीं, जिस तरह दोनों हाथ या दोनों पैर एक-दूसरे के साथ घिसकर धोये जाते हैं, उसी प्रकार शील और प्रज्ञा एक-दूसरे से शुद्ध होते हैं; शीलवान को प्रज्ञा प्राप्त होती है और प्रज्ञावान में शील आता है।"

बुद्ध—"यह शील और प्रज्ञा क्या है, तुम जानते हो ?"

सोणदण्ड—"नहीं, गौतम ! यही मैं तुम्हारे पास जानना चाहता हूँ।" तत्पश्चात् गौतम ने अपने धर्मोपदेश के दो मुख्य तत्वों—शील और प्रज्ञा—का स्वरूप समझाया।

बौद्ध धर्म के पन्थ

बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म के साथ निकट सम्बन्ध रखता है। दोनों धर्मों के अनुयायी मूल में एक ही धर्म के थे और इन दोनों धर्मों के अलग हो जाने के बाद भी उनके बीच आचार-विचार का खूब आदान-प्रदान जारी था। इसलिए जैसे एक ओर बौद्ध धर्म का ब्राह्मण धर्म पर असर हुआ उसी तरह दूसरी तरफ ब्राह्मण धर्म ने बौद्ध धर्म पर भी बहुत असर डाला। फिर बौद्ध धर्म इस देश और परदेश की अनेक जाति के लोगों में फैला, इसलिए भी इसके मूल स्वरूप में बहुत अन्तर पड़ गया। इस तरह कालक्रम में बौद्ध धर्म में बहुत से मत-मतान्तर पैदा हुए।

इन सबको यहाँ नहीं बतलाया जा सकता। परन्तु बौद्ध धर्म के दो मुख्य पन्थ—'महायान' और 'हीनयान'—इनके विषय में तो थोड़ा-बहुत जानना जरूरी है।

परम तत्व को जाने का साधन—'यान'—मार्ग अथवा गाड़ी। मूल पाली भाषा के त्रिपिटक में ही जो धर्म का मार्ग बताया है वह 'हीन' अर्थात् छोटा यान कहलाता है, और इस त्रिपिटक में बहुत-सा परिवर्तन होने के बाद तथा दूसरे संस्कृत ग्रन्थ जोड़कर जो यान बना है वह 'महा' अर्थात् बड़ा यान कहलाता है।

आजकल हीनयान का प्रचार बौद्ध धर्म के दक्षिण देशों—सिंहलद्वीप, ब्रह्म देश और स्याम—में है, महायान का बौद्ध धर्म के उत्तर देशों—नेपाल, तिब्बत, चीन, कोरिया और जापान में है।

हीनयान और महायान में मुख्य-भेद यह है कि हीनयान में अधिकांशतः अकेला तत्व ज्ञान (चार आर्य सत्य) और इस तत्व ज्ञान को प्राप्त करने का सादा मार्ग (जैसे कि पंच

शील, अष्ट शील, दश शील और आर्य अष्टाङ्ग मार्ग) का ही उपदेश है। महायान में विशाल अर्थ में हम जिसको धर्म कहते हैं उसके सारे तत्व आते हैं—जैसे कि भक्ति, योग, स्वर्ग-नरकादि, लोक की मान्यता वगैरा। गौतम बुद्ध ने ईश्वर का उपदेश नहीं किया था, बल्कि अनीश्वर धर्म का ही उपदेश किया था, ऐसा कहें तो भी एक तरह से झूठ नहीं है। परन्तु धर्म में किसी-न-किसी प्रकार के ईश्वर के बिना न चलता था और इसलिए इस महायान पंथ में बुद्धदेव को ईश्वर की तरह मानकर उनके अनेक अवतारों की तथा उनके दिव्य और नित्य स्वरूप की भक्ति शामिल की गई तथा इस भक्ति से उनके धाम में पहुँचा जाता है, उनके साथ एकता प्राप्त होती है, इत्यादि उपदेश चालू हुआ।

महायान और हीनयान के बीच एक दूसरा भेद यह है कि हीनयान में मनुष्य का स्वयं निर्वाण पाना ही परम कर्तव्य गिना जाता है।

महायान में स्वयं निर्वाण पाने की अपेक्षा दूसरे को प्राप्त कराना अधिक महत्व का गिना जाता है—अर्थात् अपने लिए निर्वाण की इच्छा किये बिना दूसरे जीवों को उपदेश करना और उनको निर्वाण के पथ पर आरूढ़ कराना उत्तम गिना जाता है। जो स्वयं ही निर्वाण के मार्ग पर आरूढ़ हों वह अर्हन्त हैं और जो दूसरे का उपकार करें वह बोधिसत्व हैं।

अर्हन्त से बोधिसत्व बढ़कर है। गौतम बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ, उससे सन्तोष न करके तथा उनको निर्वाण का जो लालच दिया गया उससे भी न ललचाते हुए 'अपने प्राप्त किये हुए ज्ञान को मैं अन्य जीवों को दूँ और उनको इस संसार-रूपी निद्रा से जगाऊँ', ऐसा संकल्प कर वे धर्म-चक्र प्रवर्तन करने के लिए निकल पड़े थे।

बुद्धदेव की पूजा

बुद्धदेव को ईश्वर रूप में मानने का प्रचार बहुत पहले शुरू हो चुका था परन्तु यह मान्यता पूरे तौर से तो महायान पंथ में ही विकसित हुई है।

ब्राह्मण धर्म की त्रिमूर्ति की तरह, बौद्ध धर्म के इस पंथ में (१) मंजु श्री (२) अवलोकितेश्वर और (३) वज्रपाणि—इन नामों के बुद्धदेव के तीन स्वरूप पूजे जाते हैं। मंजु श्री ज्ञान की मूर्ति है; सकल विद्या उनसे प्रकट हुई है, जिस प्रकार ब्राह्मण धर्म में वेद ब्रह्मा में से निकला कहा जाता है। अवलोकितेश्वर—इस जगत् को अवलोकित करने वाले—देखने वाले सर्व-शक्तिमान् बोधिसत्व हैं। इन्होंने ही यह अपना जगत् उत्पन्न किया है; और इनकी ही शक्ति-रूप वज्र धारण करने वाला एक स्वरूप वज्रधर या वज्रपाणि के नाम से प्रसिद्ध है।

बौद्ध धर्म में ध्यान, परोपकार और उपदेश की बहुत महिमा है और इसलिए इन तीन कामों के लिए पाँच ध्यानी बुद्ध, पाँच बोधिसत्व और पांच मानुषी (मनुष्य रूप में अवतरित) बुद्ध माने गये हैं। अमिताय या अमितायु (अमाप तेज और अमाप आयुष्य वाले बुद्ध भगवान) चौथे ध्यानी बुद्ध हैं। इनके बोधिसत्व अवलोकितेश्वर हैं और इनका मनुष्य-रूप गौतम बुद्ध है। इन सब बुद्धों की सीमा, सबका आदि कारण—आदि-बुद्ध कहलाते हैं।

अकेले संयम का और नीति का धर्म रूखा पड़ जाता है और मनुष्य के मन का ईश्वर-विश्वास की ओर स्वाभाविक रुझान है, इसलिए बौद्ध धर्म में बुद्धदेव के ये विविधरूप यदि ईश्वर स्थान में कल्पित किये जायं और पूजे जायँ तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु इसके उपरान्त तिब्बत के बौद्ध धर्म में तो ब्राह्मण धर्म के तन्त्र-शास्त्र जैसी ही काली-गोरी देवियों की

उपासना तथा उसके साथ मन्त्र-मुद्रा वगैरा बहुत-सी क्रियाएँ भी देखने में आती हैं।

धर्मकाय और त्रिकाय

धर्म का या धर्म-रूपी महाशरीर धर्मकाय है। वस्तुमात्र धर्म के आधार पर टिकी हुई है, इसलिए इस जगत् का आधार-भूत तत्व धर्मकाय कहलाता है। वेदान्त में जिसको ब्रह्म-परमात्मा कहते हैं उससे मिलती-जुलती बौद्धधर्म में इस धर्मकाय की मान्यता है। यह धर्मकाय मैत्री और करुणा से भरपूर है। मैत्री (सर्व प्राणियों के प्रति प्रेम) और करुणा धर्म के मुख्य तत्व हैं; और जिस तरह दूसरे सेश्वर धर्मों में ये गुण ईश्वर में माने जाते हैं, उसी तरह बौद्ध धर्म में ये गुण धर्मकाय में माने जाते हैं।

यह धर्मकाय प्राणी के कल्याण के लिए जब शरीर ग्रहण करता है तब 'निर्माणकाय' कहलाता है। यह 'निर्माणकाय' वही है जिसको ब्राह्मण धर्म में 'अवतार' कहते हैं।

तीसरा 'संभोग काय' है। बुद्ध भगवान् का आनन्दमय स्वरूप 'संभोग काय' है। जीव जब बुद्ध भगवान् के साथ एकता प्राप्त करता है, तब वह 'संभोग काय' का आनन्द भोगता है।

यात्रा व्रत और विधि

सिद्धार्थ गौतम ने गया में जिस वृक्ष-तले ज्ञान प्राप्त किया तथा काशी में जिस जगह उन्होंने पांच शिष्यों को प्रथम उपदेश देकर धर्म-चक्र प्रवर्तित किया—वे स्थल बौद्ध धर्म में बहुत पवित्र माने जाते हैं। फिर ई० सं० के पहले क़रीब ढाई-सौ वर्ष के पूर्व अशोक के पुत्र महेन्द्र ने सिंहलद्वीप में जाकर

बौद्ध धर्म का उपदेश किया और उसकी बहन संघ मित्रा ने गया के बोधिवृक्ष की एक डाल लाकर लगाई। उस डाल का जो वृक्ष हुआ वह अब तक अनुराधपुर में है और वह बौद्ध धर्म में यात्रा का स्थान गिना जाता है। प्राचीन काल में चीन वगैरा दूर देशों से भी बहुत-से यात्री इन सब स्थानों में यात्रा करने आते थे और आज भी बौद्ध धर्म के अनुयायियों में इन स्थानों की बहुत महिमा है। पुनः कुशीनगर के पास गौतम बुद्ध ने निर्वाण पाया, इसलिए यह स्थान भी यात्रा के लिए बड़ा गिना जाता है। उसके बाद गौतम बुद्ध की देह के केश-दांत-अस्थि वगैरा अवयवों को भिन्न-भिन्न स्थलों में गाड़कर उनके ऊपर स्तूप बनाये गए और वे बौद्ध धर्म के देव स्थान बने।

महीने में चार दिन लगभग आठ-आठ दिन के अन्तर से उपोसथ ([1] उपवसथ—उपवास) किये जाते हैं। उस दिन गृहस्थ भी साधुओं के जैसा नियम पालते हैं। चौमासे में चारों मास अष्ट शील पालने की विधि है और अन्तिम मास में जो 'चीवर मास' कहलाता है गृहस्थ भिक्षुओं को 'चीवर' कहा जाने वाला (भिक्षुओं का) वस्त्र देते हैं।

बौद्ध धर्म में भगवान् की पूजा करने की रीति ब्राह्मण और जैन धर्म से मिलती-जुलती ही है। परन्तु वृक्ष के नीचे गौतम-बुद्ध ने ज्ञान पाया तथा उन्होंने धर्म-चक्र प्रवर्तित किया इन दो वस्तुओं का स्मरण कराने वाले तिब्बत के बौद्ध धर्म में दो जानने योग्य रिवाज उत्पन्न हो गए हैं। एक लकड़ी के स्तम्भ पर रेशमी झंडा लगाया जाता है और झंडे पर "ओम् मणि पद्मे हुम"—"अहो! इस विश्वरूपी कमल में मणि बुद्ध देव है"—ऐसा लिखा होता है। यह स्तम्भ समझिये बोधवृक्ष। पुनः बुद्ध

---

१ देखो "जैन धर्म"

भगवान् ने धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया, इसलिए चक्र (पहिया) पर शास्त्र के वचन और मंत्र लिखकर चक्र घुमाने से पुण्य होता है—ऐसा माना जाता है। और ऐसे चक्र लोगों के फिराने के लिए गांव-गांव के रास्ते और चौक में रखे रहते हैं।

बौद्ध धर्म की सभाएं

गौतम भगवान् के शिष्यों में—मूल ब्राह्मण, परन्तु बाद में जिसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया—एक वृद्ध भिक्षु महाकाश्यप नाम का था। इसने गुरु के निर्वाण के बाद उनके उपदेश की रक्षा करने के लिए एक सभा भर कर शास्त्र निश्चित किए। सब की सम्मति से एक उत्तम भिक्षु को धर्मासन पर बिठा कर सभापति (महाकाश्यप) उनसे प्रश्न पूछे। उसका वह भिक्षु उत्तर दे और बाद में इकट्ठे हुए भिक्षु एक आवाज से इसका फिर से उच्चारण करें—इस प्रकार शास्त्र निश्चित करने का रिवाज था। यह सभा 'महा संगीति' के नाम से प्रसिद्ध है और वह बिम्बिसार राजा के पुत्र अजातशत्रु के समय में (ई० सं० के लगभग साढ़े चार-सौ वर्ष पूर्व) राजगृह (मगध देश) में बुलाई गई थी।

उसके सौ वर्ष बाद दूसरी सभा वैशाली नगरी में मिली थी तीसरी सभा महाराजा अशोक के समय में पाटलिपुत्र नगर में मिली। उसमें सिद्धान्त का रक्षण करने के बाद धर्मचक्र प्रवर्तन—उपदेश—के लिए देशान्तरों में भिक्षुओं को भेजने का निश्चय हुआ। उसके अनुसार सिंहलद्वीप (लंका), काश्मीर, गान्धार (अफगानिस्तान), बेक्ट्रिया (मध्य एशिया) वगैरा देशों में भिक्षु गये और बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उसके बाद एक सभा सिंहलद्वीप में अशोक महाराजा के पुत्र महामहेन्द्र ने,

दूसरी उत्तर हिन्दुस्तान में महाराजा कनिष्क ने, और तीसरी ई० स० ७ वीं शताब्दी में महाराजा शिलादित्य ने भरी थी।

उद्धरण

वैर द्वारा कभी वैर का शमन नहीं होता। अवैर से ही (वैर छोड़ने से ही, प्रेम से ही) वैर शान्त होता है।

अप्रमाद—(धर्म में जागते रहना)—अमृतत्व का पद है; प्रमाद मृत्यु का पद है। प्रमादरहित आदमी नहीं मरता, प्रमाद वाला मरता है।

जिस प्रकार यदि सुन्दर रंग के पुष्प में सुगन्ध न हो तो वह अच्छा नहीं लगता, उसी तरह यदि सुन्दर भाषण वाली वाणी के साथ क्रिया न जुड़ी हो तो वह निष्फल है।

जो अपने लिए या अन्य के लिए पुत्र-धन-राज्यादिक की इच्छा नहीं करता तथा जो अधर्म द्वारा धनवान् नहीं होना चाहता वही शीलवान् (चारित्रवान्) प्रज्ञावान् (बुद्धिमान) और धार्मिक है।

उत्तम धर्म क्या है—यह जाने बिना जो सौ वर्ष जिये, उसकी अपेक्षा उत्तम धर्म का जानने वाला यदि एक ही दिन जिये तो वह अधिक अच्छा है।

पापी पुरुष चाहे अन्तरिक्ष में, समुद्र के बीच या पर्वत की गुफा में प्रवेश करे तो भी जगत् में ऐसा कोई प्रदेश नहीं कि जहां पहुँचकर वह बच जाय।

सर्व प्राणी दण्ड (मारने) से त्रस्त होते हैं, सब प्राणियों को जीव प्यारा है। अपनी आत्मा का उदाहरण लेकर किसी प्राणी का वध नहीं करना, किसी को ताड़ना नहीं देना।

मूँड़ मुड़ाने से श्रमण नहीं होता। जो छोटे-बड़े सब प्रकार के पाप शांत कर दे वह पाप शमन करने से श्रमण कहलाता है। दूसरे के घर जाकर भिक्षा मांगने से ही भिक्षु नहीं होता;

सकल धर्म का पालन कर जो भिक्षु होता है वही सच्चा भिक्षु है, सिर्फ भिक्षा मांगने वाला ही नहीं। मूढ़ पुरुष मौन धारण करके बैठने से ही मुनि नहीं होता; परन्तु जो तराजू लेकर दोनों पक्ष तोलता है वही मुनि है। प्राणियों की हिंसा करने से (यज्ञ से) आर्य नहीं होता; जो सब प्राणियों पर दया रखता है, वही आर्य है।

मार्गों में अष्टांग मार्ग श्रेष्ठ है; सत्यों में चार पद (शब्द)—'दुःख', 'समुदय' (दुःख का उत्पत्ति कारण), 'निरोध' (दुःख का नाश) और 'मार्ग' (दुःख को नाश करने का साधन)—श्रेष्ठ हैं; धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है; और द्विपद (दो पैर से चलने वाला—मनुष्य) में अक्षुष्मन्त कहलाने वाला—द्रष्टा—ज्ञानी श्रेष्ठ है।

जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण जाता है तथा शुद्ध प्रज्ञा द्वारा (१) दुःख (२) दुःख की उत्पत्ति का कारण (तृष्णा) (३) दुःख की शान्ति (दुःख के पार जाना; निर्वाण) (४) और इस दुःख की शान्ति कराने वाला आर्य अष्टांग मार्ग—इन चार आर्य सत्यों को समझता है वह देखता है कि यह शरण कल्याणकारी है, उत्तम है, उसकी शरण जाकर सर्व दुःख से मुक्त हो जाता है।

जो ब्राह्मण जाति में जन्मा है, जो ब्राह्मण माता के पेट से जन्मा है, उसको मैं 'ब्राह्मण' नहीं कहता। जो 'अकिंचन' है और जो द्रव्य नहीं रखता और किसी का द्रव्य नहीं लेता, उसको मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ।

बिना दोष भी जिसको ताड़ो, मारो, बांधो, तो भी जो हृदय में मलिन भाव लाये बिना सहन करता है—ऐसे क्षमारूपी बलशाली और दृढ़तारूपी सेना वाले को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ।

जो मनसा, वाचा या कर्मणा दुष्कर्म (पाप) नहीं करता और तीनों स्थान में जो संवर (संयम) वाला है, उसको मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

अत्यन्त दारुण (भयंकर) पाप करने पर भी जिसका आश्रय लेकर मनुष्य क्षण-भर में (संसार) तिर जाता है जैसे शूर पुरुष का आश्रय लेने से सामान्य मनुष्य भी महाभय के प्रसंग के पार उतर सकता है, उसी तरह ऐसे बोधिचित्त (बोधि-सत्व) का आश्रय अज्ञानी जीव क्यों नहीं करते ?

जो उपकार के बदले में उपकार करे उसकी भी प्रशंसा होती है तो जो निष्कारण साधु है, ऐसे बोधिसत्व के विषय में तो कहना ही क्या ?

मारो, निन्दा करो, शरीर पर धूल डालो, मेरे शरीर को खिलौना बनाकर खेलो, हँसो, मौज करो—चाहे जो करो—मैंने तो अपना शरीर उनको दे दिया है, फिर मुझे इसकी क्या फिक्र ?

मैं रोगी की औषधि होऊँ, वैद्य होऊँ, उसका सेवक होऊँ—तब तक जब तक उसका रोग जड़-मूल से न निकल जाय।

मैं काया द्वारा ही पाठ करूँगा, सिर्फ वाणी के पाठ से क्या ? चिकित्सा के पाठ-मात्र से रोगी को क्या फायदा ?

[धम्मपद वगैरा]